णमो समणस्स भगवओ वद्धमाणस्स।

श्रीभूपेन्द्रसूरि–जैनसाहित्यपुष्पाङ्क–६

गत्पूज्य–श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि–धनचंद्रसूरि–भूपेन्द्रसूरीश्वरेभ्यो नमः।

मद्विनयविजयमहोपाध्यायविरचिता–

शान्तसुधारसभावना।

हिन्दीभावार्थ सह

लेखक–

स्य पू० पा० साहित्यविशारद–विद्याभूषण–जैनाचार्य–

श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज।

द्रव्य सहायक–

मूर्ति मुनिराज श्रीहंसविजयजी महाराज के उपदेश से

(मारवाड) निवासी–पोरवाड शा. जेताजी के सुपुत्र

साकलचंद नथमल फूलचंद बाबूलाल।

प्रकाशयित्री–

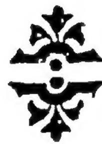
श्रीभूपेन्द्रसूरि जैनसाहित्यसमिति

राजेन्द्रसूरि–	वीरनिर्वाण–	मूल्य–
सं २५	सं. २४६६	पठन पाठन
वि सं १९९७	प्रत १०००	ईस्वी सन् १९४१

प्राप्ति स्थान-

१-श्रीभूपेन्द्रसूरि जैनसाहित्यसमिति
मु. पो. आहोर (मारवाड)
वाया-एरनपुरारोड़।

२-शा. साकलचंद नथमल जेताजी
मु. पो. सियाणा (मारवाड़)
वाया-सिरोही।



मुद्रक -
હીરાલાલ દેવચંદ શાહ.
શ્રીશારદામુદ્રણાલય, પાનકોરનાકા-અમદાવાદ.

प्रासंगिक-निवेदन-

प्रिय पाठकवृन्द! इस 'शान्तसुधारसभावना' नामक प्रस्तुत पुस्तक का विक्रम सम्वत् १७२३ में उपाध्याय पद विभूपित मुनि श्रीविनयविजयजी महाराज ने नागपुर में निर्माण किया था। ऐसा पुस्तक की ग्रन्थप्रशस्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है।

इस में कवि ने क्रमशः (१) अनित्यभावना (२) अशरण-भावना (३) संसारभावना (४) एकत्वभावना (५) अन्यत्वभावना (६) अशुचिभावना (७) आश्रवभावना (८) संवरभावना (९) निर्जराभावना (१०) धर्मभावना (११) लोकस्वरूपभावना (१२) वोधिदुर्लभभावना (१३) मैत्रीभावना (१४) प्रमोदभावना (१५) कारुण्यभावना और (१६) माध्यस्थभावना, इन सोलह भावनाओं का वड़े ही सरस और प्रसादगुणगुम्फित विविध प्रकार की राग रागनियों से गाने योग्य अष्ट पदियों तथा तरह तरह के छन्दों में वड़ी ही खूवी और हृदयङ्गम शैलीसे विवेचन किया है।

इस ग्रन्थ की कविता वड़ी ही सरल, वैराग्यप्रधान और कवि के हृदयस्थित भावों का प्रतिविम्वस्वरूप है। इस में सर्वत्र कवि का आन्तरिक हृदय वैराग छलक रहा है अतः इसे पढते समय मनुष्य आनन्दविभोर होकर अपने आपको भूल जाता है और उस समय सिवाय आत्मचिन्तन के उसको किसी दूसरी वस्तुका भान तक नहीं रहता। इन भावनाओं का सच्चे दिलसे किया हुआ चिन्तन, मोक्षनगरी का सरल और सीधा मार्ग है जो मनुष्य को शीघ्र और सहज ही में मोक्ष प्राप्त करादेता है।

पूज्य महोपाध्यायजी श्रीविनयविजयजी के इन संस्कृत कविता-बद्ध भावना सम्बन्धी हृदयोद्गारों के रस का आस्वादन केवल संस्कृतज्ञ ही कर सकते थे और संस्कृत शून्यभावुक प्राणी इसके पढ़ने और मनन करने के लाभ से वंचित रहते थे। यह देख कर स्वर्गीय पूज्य आचार्य श्रीमद्विजयभूपेन्द्र-सूरिजी महाराजने अपने हृदय में यह विचार किया कि यदि इस ग्रन्थ का विद्यमान नूतनप्रणाली के अनुसार हिन्दी अनुवाद (टीका) बना कर इसे प्रकाशित किया जाय तो सर्वसाधारण प्राणी भी इस से विशेष लाभ उठा कर अपना आत्म कल्याण कर सकते हैं।

फिर क्या था? महापुरुषों के हृदय मे आया हुआ शुद्ध संकल्प कभी निष्फल नहीं जाता। उन्होंने उसी दिन से इस अतीव उपयोगी ग्रन्थ की भावार्थबोधिनी हिन्दी टीका लिखनेका अपने मन मे दृढ संकल्प कर लिया और कुछदिनों के बाद आपश्रीने टीका का कार्य भी आरम्भ कर दिया। जब कभी आपको अवकाश मिलता तब आप इसे थोड़ा बहुत लिख लेते। इस प्रकार आपश्री का यह कार्य लगभग तीन चार महीने मे समाप्त होचुका था।

आप के स्वर्गवास बाद सं १९९५ चैत्र वदि २ को आहोर (मारवाड) में पू पा व्या वा वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की अध्यक्षता मे 'श्रीभूपेन्द्र-सूरि-जैनसाहित्यप्रकाशकसमिति' कायम की गई जिसका प्रकाशन कार्य पू पा उपाध्यायजी श्रीगुलाबविजयजी महाराज, [illegible] मुनिराज श्रीहर्षविजयजी, मुनिराज श्रीहंसविजय, श्री कल्याणविजयजी को दिया गया। प्रकाशनसमितिने श्री के रचित ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ कर दिया

है अत. इसके साथ साथ और भी आपश्री के बनाये हुये ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

आप द्वारा रचा हुआ प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद बड़ा ही सारगर्भित और रोचक तथा हृदयस्पर्शी हुआ है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह अनुवाद प्रत्येक भव्यात्मा के लिये अतीव उपयोगी सिद्ध होगा। आपश्रीने संस्कृतज्ञों की सुविधा के लिये श्लोकों पर अन्वयाङ्क भी लगा दिये हैं जिससे पुस्तक की योग्यता और भी बढ गई है।

अधिक क्या कहें! पाठकगण स्वयं इसे पढ कर, इसका आनन्द उठा कर इसके माहात्म्य का तथा सद्गत आचार्यश्री के कथनीय प्रयास का अपने शुद्ध अन्तःकरण में स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

निवेदिका–श्रीभूपेन्द्रसूरिजैनसाहित्यसंचालकसमिति
मु. पो. आहोर (मारवाड़)

———— ० ————



श्री धनचन्द्रसूरि-पट्टप्रभावक—



श्रीमद् विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज.

श्री महोदय प्रेस-भावनगर

महोपाध्याय-श्रीमद्विनयविजय-निर्मिता
श्रीशान्तसुधारसभावना।

शार्दूलविक्रीडित-छन्द-

नीरन्ध्रे भवकानने परिगलत्पञ्चाऽऽश्रवाम्भोधरे,
नानाकर्मलतावितानगहने मोहान्धकारोद्धुरे।
भ्रान्तानामिह देहिनां हितकृते कारुण्यपुण्यात्मभि-
स्तीर्थेशैः प्रथिताः सुधारसकिरो रम्या गिरः पान्तु वः ॥१॥

भावार्थ—जिसमें, प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पाँच आश्रव रूपी मेघ बरस रहे हैं, जिसमें जन्म जन्मान्तर के अनेकों प्रकार के ज्ञानावरणादिक कर्मरूपी लताओं के समूह जाल के समान फैले हुए हैं, जो अज्ञान रूपी घने अन्धेरे से परिपूर्ण हैं ऐसे इस संसार रूपी घोर जंगल में इधर उधर भटकते हुए असहाय प्राणियों की कल्याणकामना (वांछा) के लिए, दयास्वरूप, पवित्रात्मा तीर्थङ्करों के मुख से निकले हुए, अमृत बरसाने वाले मधुर वचन आप लोगों की रक्षा करें॥१॥

द्रुतविलम्बित-वृत्त-

स्फुरति चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शान्तिसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाऽऽकुले ॥

शुभ भावना के विना विद्वानों के भी चित्त में यह शान्ति रूपी अमृतरस प्रकट नहीं होता और इसके प्रकट हुए विना, मोह और दुःख रूपी ज़हर से लबालब भरे हुए इस संसार में लेशमात्र भी सुख नहीं है ॥२॥

यदि भवभ्रमखेदपराङ्मुखं, यदि च चित्तमनन्तसुखोन्मुखम्।
शृणुत तत् सुधियः! शुभभावना-, मृतरसं मम शान्तसुधारसम् ॥

भावार्थ—हे विद्वानों! यदि आप लोगों का चित्त, संसार के आवागमन के दुःख से छूटना चाहता है, तथा मोक्ष सुख के साधन की उत्कण्ठा वाला है तो आप लोग, शुभ द्वादश भावना रूपी अमृत रस से भरे हुए मेरे इस 'शान्तसुधारस' नामक ग्रंथ का ध्यान पूर्वक श्रवण करो ॥३॥

सुमनसो! मनसि श्रुतपावना, निदधतां द्व्यधिका दश भावनाः।
यदिह रोहति मोहतिरोहिता-ऽद्भुतगतिर्विदिता समतालता ॥४॥

भावार्थ—हे ज्ञानी जनो! जिन भावनाओं के प्रताप से अज्ञान के पर्दे में छिपी हुई लोकप्रसिद्ध, अलौकिक चमत्कार वाली समता रूपी लता (बेल) पुनः हरी भरी (प्रकट) हो जाती है ऐसी सुनने मात्र से पवित्र कर देने वाली उन बारह भावनाओं को आप लोग हृदय में धारण करें ॥४॥

रथोद्धता—छन्द—

आर्त्तरौद्रपरिणामपावक,—प्लुष्टभावुकविवेकसौष्ठवे।
मानसे विषयलोलुपाऽऽत्मनां, क्व प्ररोहतितमां शमाऽङ्कुरः ? ॥

भावार्थ—जिनमें, आर्तध्यान और रौद्रध्यान के फल रूप अग्नि से भावुक प्राणियों के विवेक की सुन्दरता जल कर खाक हो गई ऐसे सांसारिक विषयवासनाओं में फँसे हुए प्राणियों के अन्तः-करण में शान्ति का अंकुर कैसे उत्पन्न हो (उग) सकता है ? अर्थात्

जिनके मन में आर्तध्यान और रौद्रध्यान रूपी अग्नि की ज्वालाएँ धधका करती हैं उनके मन में शान्ति कभी निवास नहीं करती ॥५॥

वसन्ततिलका—छन्द—

यस्याशयं श्रुतकृतातिशयं विवेक,—
पीयूषवर्षरमणीयरमं श्रयन्ते।
सद्भावनाः सुरलता न हि तस्य दूरे,
लोकोत्तरप्रशमसौख्यफलप्रसूतिः ॥६॥

भावार्थ—सद्भावनाएँ, जिस मनुष्य के शास्त्रों के अभ्यास से महत्व को प्राप्त हुईं तथा विचार (ज्ञान) रूपी अमृत की वर्षा से सुन्दर शोभा वाले अन्तःकरण में निवास करती हैं निश्चय करके ऐसे भव्य प्राणी के लिए अलौकिक शान्ति रूपी सुखमय फलों को उत्पन्न करने वाली कल्पलता दूर नहीं हैं। अर्थात् जिसके शुद्ध अन्तःकरण में सद्भावनाओं का निवास है उसके लिए कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है ॥६॥

अनुष्टुप्—छन्द—(युग्मम्)

अनित्यत्वाऽशरणते, भवमेकत्वमन्यताम्।
अशौचमाश्रवं चाऽऽत्मन्!, संवरं परिभावय ॥७॥
कर्मणो निर्जरां धर्म,—रूपतां लोकपद्धतिम्।
बोधिदुर्लभतामेताः, भावयन् मुच्यसे भवात् ॥८॥

भावार्थ—हे जीव! अनित्यभावना १, अशरणभावना २, संसारभावना ३, एकत्वभावना ४, अन्यत्वभावना ५, अशुचिभावना ६, आश्रवभावना ७, संवरभावना ८, कर्मनिर्जराभावना ९, धर्मस्वरूपभावना १०, लोकस्वरूपभावना ११, और बोधिदुर्लभभावना १२, इन बारह भावनाओं का विचार कर, कारण कि इनका विचार

करता हुआ ही तूं इस संसार रूपी बन्धन से छूटेगा अन्यथा नहीं ॥७-८॥

पुष्पिताग्रा–छन्द–

जगति वपुरिदं विदभ्रलीला, परिचितमप्यतिभङ्गुरं नराणाम्।
तदतिचपलयौवनाऽविनीतं, भवति कथं विदुषां महोदयाय ॥९॥

भावार्थ—हे ज्ञानवान्! इस संसार मे मनुष्यों का यह शरीर, बादलों के व खेल के समान, क्षण भर में ही नष्ट होने वाला है। इसलिए बहुत ही चञ्चल जवानी के मद से उद्दण्ड यह शरीर विद्वानों के भी, मोक्ष आदि कल्याण का साधन किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं हो सकता ॥९॥

शार्दूलविक्रीडित–छन्द–

आयुर्वायुतरत्तरङ्गतरलं लग्नापदः संपदः।
सर्वेऽपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः संध्याभ्ररागादिवत् ॥
मित्रस्त्रीस्वजनादिसङ्गमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमं।
तत् किं वस्तु भवे भवेदिह मुदा–मालम्बनं यत्सताम् ॥१०॥

भावार्थ—इस असार संसार में, मनुष्यों का जीवन, हवा के झोकों से लहराती हुई लहरों के समान चञ्चल है। सम्पत्तियें दुःखों से मिली हुई हैं। अर्थात् सुख दुःख से संयुक्त हैं। श्रोत्र नेत्रादि पांच इन्द्रियों के प्रत्यक्षभूत, सभी पदार्थ सायंकाल के समय होने वाले, लाल पीले आदि रंग के सुन्दर बादलों के समान क्षण स्थायी हैं। और स्त्री, मित्र, पुत्र, बन्धु आदि सम्बन्धियों के मिलने का सुख, स्वप्न और इन्द्रजाल (जादूगर के खेल) के तुल्य है। तब यह ऐसी कौनसी वस्तु है जो सज्जनों के शाश्वत सुख की प्राप्ति का अवलम्बन हो सकती है ॥१०॥

प्रातर्भ्रातरिहावदातशुचयो, ये चेतनाऽचेतनाः ।
दृष्टा विश्वमनोविनोदविदुरा, भावाः स्वतः सुंदराः ॥
"तांस्तत्रैव दिने" विपाकविरसान्, हा! नश्यतः पश्यतः-
श्चेतः प्रेतहतं जहाति न भव,-प्रेमानुवन्धं मम ॥११॥

भावार्थ—हे भ्राता! इस दुनियां में स्वच्छ शोभावाले तथा सम्पूर्ण प्राणिओं के मनों को वहला (लुभा)ने में कुशल, स्वभाव से ही रमणीय, सजीव और निर्जीव, जो पदार्थ प्रातः काल में देखे गये थे उन्हीं को, उसी दिन, समय के फेर से, शोभा रहित, मलिन तथा नष्ट होते हुए देखता हुआ भी मेरा यह अज्ञानी मन संसार के प्रेमवन्धन को नहीं छोड़ता है। यह वड़े ही दुःख की वात है ॥११॥

अथ रामगिरिरागेण प्रथमभावनाष्टकं लिख्यते—

मूढ़! मुह्यसि मुधा मूढ़! मुह्यसि मुधा, (ध्रुवपद)
विभवमनुचिन्त्य हृदि संपरिवारं।
कुशशिरसि नीरमिव गलदनिलकम्पितम्,
विनय! जानीहि जीवितमसारम् ॥ मूढ०१॥

भावार्थ—रे अज्ञानी! पुत्र कलत्र आदि कुटुम्व से युक्त ऐश्वर्य का वार वार अपने मन में विचार करके तूं व्यर्थ ही क्यों मोहित होता है? हे विनयविजय! दर्भ (डाभ) के अग्रभाग पर पड़ी हुई तथा हवा के झोकों से गिर कर नष्ट होती हुई ओस की वूंदों के समान अपने जीवन को सारहीन और क्षणभर में नष्ट होनेवाला जान ॥१॥

पश्य भङ्गुरमिदं विषयसुखसौहृदम् ।
पश्यतामेव नश्यति महासम् ॥
एतदनुहरति संसाररूपं रया-,

ज्ज्वलज्जलदवालिकारुचिविलासम् ॥ मूढ०२॥

भावार्थ—हे मूर्ख ! भोगविलास के सुख मे प्रेमवाले तथा क्षणभर मे नष्ट होने वाले इस संसार के रूप को देखते ही विलीन हो जाता है। ऐसा यह संसार का स्वरूप, बादल मे रही हुई बिजली की कान्ति की क्षणिक तड़फन का वेगसा अनुकरण करता है। सारांश यह है कि जैसे बिजली अपने अनुपम सौन्दर्य को दिखला कर पलक मारते ही नष्ट हो जाती है वैसे ही यह संसार का स्वरूप भी क्षणभङ्गुर है ॥२॥

हन्त ! हतयौवनं पुच्छमिव शौनकं ।
कुटिलमति तदपि लघुदृष्टनष्टम् ॥
तेन बत ! परवशा-परवशा हतधियः ।
कटुकमिह किन्न कलयन्ति कष्टम् ? ॥मूढ०३॥

भावार्थ—हमे इस बात का बड़ा खेद है कि यह अधम जवानी कुत्ते की पूछ के समान अत्यन्त टेढ़ी है तथा जल्दी ही देखते देखते विनष्ट होने वाली है तो भी उस जवानी के मदसे स्त्रियों के वश मे होते हुए मूर्ख लोग उस जवानी को इस संसार में कटुक (कडुए) रस से दुःख परिपूर्ण क्यों नहीं मानते है ?। यह बड़ा आश्चर्य है। सारांश यह है कि-जिस प्रकार विषैले (संखिया आदि) पदार्थों का सेवन करने में पथ्य की बड़ी भारी सावधानी रखनी पड़ती है वैसे ही इस खतरनाक (भयानक) जवानी से भी मनुष्य को बहुत सावधान रहना चाहिए ॥३॥

यदपि पिण्याकतामङ्गमिदमुपगतम् ।
भुवनदुर्जयजरापीतसारम् ॥
तदपि गतलज्जमुज्झति मनो नाऽङ्गिनाम् ।
वितथमति कुथितमन्मथविकारम् ॥मूढ०४॥

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर स्नेह हीन हो गया है, संसार में अजेय बुढ़ापे ने इसे सार (बल) हीन कर दिया है तो भी शरीर धारियों का निर्लज्ज और बुद्धि को दूषित करने वाला यह मन, निन्दनीय कामदेव के विकार को नहीं छोडता है। सारांश यह है कि-मनुष्य के बूढ़े और निर्बल हो जाने पर भी उसका मन विषयवासनाओं से मुँह नहीं मोडता ॥४॥

सुखमनुत्तरसुराऽवधि यदतिमेदुरं,
कालतस्तदपि कलयति विरामम् ।
कतरदितरत् तदा वस्तु सांसारिकं,
स्थिरतरं भवति चिन्तय निकामम् ॥मृद०५॥

भावार्थ—इस लोक से लेकर अनुत्तर विमान के देवलोक पर्यन्त के जितने भी सुख हैं उन सबो को यह काल अपना कवल (ग्रास) बना ही लेता है। तब इनसे दूसरा ऐसा कौनसा संसार का पदार्थ है जो अत्यन्त स्थिर (अविनाशी) है। इस प्रकार हे आत्मा! तूं एक चित्त होकर वारम्वार सुविचार कर ॥५॥

यैः समं क्रीडिता ये च भृशमीडिताः,
यैः सहाऽकृष्महि प्रीतिवादम् ।
तान् जनान् वीक्ष्य वत! भस्मभूयं गतान् ।
निर्विशङ्काः स्म इति धिक् प्रमादम् ॥मृद०६॥

भावार्थ—जिन लोगों के साथ हमने अनेक तरह के खेल खेले, जिनके साथ हमने प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया और जिनकी हमने खुले दिल से प्रशंसा की उन्हें जल कर खाक होते हुए देख करके भी हम निर्भय हैं इसका हमें बड़ा ही आश्चर्य है। अत हमारे इन पाच प्रमादों को वार वार धिक्कार है ॥६॥

असकृदुन्मिष्य निमिषन्ति सिन्धू-,
र्मिवच्चेतनाऽचेतनाः सर्वभावाः ।
इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसंगमा-,
स्तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः ॥मूढ०७॥

भावार्थ—संसार में जितने भी चेतन और जड़ पदार्थ हैं वे सभी समुद्र की लहरों के समान बार बार उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं तथा अपने पुत्र, कलत्र, मित्र और धन आदि का संयोग इन्द्रजाल के तुल्य है तो भी संसार के उन असत्पदार्थों में फँस कर मूर्ख लोग खुश होते हैं ॥७॥

कवलयन्नविरतं जंगमाजंगमं,
जगदहो ! नैव तृप्यति कृतान्तः ।
मुखगतान् खादतस्तस्य करतलगते-,
र्न कथमुपलप्स्यतेऽस्माभिरन्तः ? ॥मूढ०८॥

भावार्थ—अहो ! इस दृश्यमान चर और अचर संसार का निरन्तर (रातदिन) भक्षण करके भी यह काल नहीं अघाता (तृप्त होता) अपने मुख में आये हुए प्राणियों को चबाते हुए उस डरावने काल की मुट्ठी में रहे हुए हम कैसे नहीं मरेंगे ? अर्थात् हमें अवश्य मरना ही पड़ेगा। किसी हालत में हम उसके पञ्जे से छुटकारा नहीं पा सकते। अतः जो प्राणी मौत के मुखसे छूटना चाहता है उसे चाहिए कि वह ज्ञान का साधन करे ॥८॥

नित्यमेकं चिदानन्दमयमात्मनो,
रूपमभिरूप्य सुखमनुभवेयम् ।
प्रशमरसनवसुधापानविनयोत्सवो,
भवतु सततं सतामिह भवेऽयम् ॥मूढ०९॥

भावार्थ—जन्म और मरण से रहित, अद्वितीय, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा के स्वरूप को समाधि द्वारा प्रत्यक्ष देख करके मैं सुख का अनुभव करूं। जैसे–श्री भरत चक्रवर्ती, सूर्ययश राजा, आषाढ़भूति आदि अनेक महात्मा इसी अनित्य भावनाके विचार से अविनाशी महोत्तम सुख को प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार अपने मन में विचार करने वाले सज्जनों के लिए, इस संसार में, उपाध्याय–श्रीविनयविजयजी महाराज का 'शान्तसुधारस' नामक ग्रन्थ सदैव शान्तरस रूपी नवीन अमृतपान से विनय और विवेकादि सद्गुणों का विस्तार करे ॥९॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्ये भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकाया प्रथम. प्रकाशः समाप्त. ॥

अथ द्वितीयाऽशरणभावनाष्टकं प्रारभ्यते–

प्रथम भावना में अनित्यत्व–भावना कही गई है। अनित्य पदार्थ प्राणियों के शरणदाता नहीं होते अतः इस सम्बन्ध से दूसरी अशरण–भावना कही जाती है।

शार्दूलविक्रीडित–छन्द–

ये षट्खण्डमहीमहीनतरसा, निर्जित्य बभ्राजिरे,
ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुराः।
तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमाना हठा–
द्त्राणाः शरणाय हा! दश दिशः प्रेक्षन्ते दीनाऽऽननाः॥

भावार्थ—जिन प्रतापशाली चक्रवर्ती राजा लोगों ने अपने अतुल पराक्रम से छः खण्ड वाली पृथ्वी को जीत कर वश में करलिया था, अपने बाहुबल से गौरव को प्राप्त करने वाले सदा प्रसन्न जिन देवता लोगों के आनन्द की सीमा न थी। वे सब

के सब निर्दयी काल की दाढ़ों से बल पूर्वक पीसे जाते हुए, रक्षा-हीन, मलिन मुख वाले अपनी रक्षा के निमित्त खेदयुक्त दशों दिशाओ का मुँह ताकने लगे। सारांश यह है कि—कोई कितना ही बलिष्ठ और वैभवशाली क्यों न हो? परन्तु वह इस काल से अपनी रक्षा न तो अपने आप ही कर सकता है और न किसी दूसरे से बचाया जा सकता है ॥१॥

स्वागता—वृत्त—

तावदेव मदविभ्रमशाली, तावदेव गुणगौरवशाली।
यावदक्षमकृतान्तकटाक्षै—र्नेक्षितो विशरणो नरकीटः ॥२॥

भावार्थ—जब तक यमराज की दुःसह दृष्टि मनुष्य रूपी कीड़े पर नहीं पड़ती तब तक ही वह मद के विलास से तथा दयादाक्षिण्यादि गुणों के महत्त्व से शोभायमान रहता है ॥२॥

शिखरिणी—वृत्त—

प्रतापैर्व्यापन्नं गलितमथ तेजोभिरुदितै,-
र्गतं धैर्योद्योगैः श्लथितमपि पुष्टेन वपुषा।
प्रवृत्तं तद्द्रव्यग्रहणविषये बान्धवजनैः,
जने कीनाशेन प्रसभमुपनीते निजवशम् ॥३॥

भावार्थ—इस असार संसार में, यमराज जब प्राणी को बल-पूर्वक अपने वश मे कर लेता है तब उस प्राणी का प्रताप नष्ट हो जाता है, उसका चमकता हुआ तेज अस्त हो जाता है, उसका धैर्य और पुरुषार्थ विलीन (भ्रष्ट) हो जाता है और अधिक क्या कहें—उसका यह हृष्टपुष्ट सुन्दर शरीर भी शिथिल हो जाता [है त]था उसके कुटुम्बी लोग उसका धन ग्रहण करने में प्रवृत्त हो [जाते हैं]। उस समय उसकी कोई भी सहायता नहीं करता ॥३॥

अथ मारुणीरागेण गीताष्टकं लिख्यते—

स्वजनजनो बहुधा हितकामं प्रीतिरसैरभिरामं।
मरणदशावशमुपगतवन्तं रक्षति कोऽपि न सन्तम्॥
विनय विधीयतां रे! श्रीजिनधर्मशरणं।
अनुसंधीयतां रे! शुचितरचरणस्मरणम्॥१॥ ध्रुव०

भावार्थ—अनेक प्रकार से प्राणियों का हित चाहने वाले, प्रेम-रस से भरे हुए, मृत्युशय्या पर पड़े हुए सज्जन मनुष्य की कोई भी कुटुम्बी रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् काल के गाल से उसे कोई भी नहीं छुड़ा सकता। अतः हे विनयी आत्मा! अथवा हे विनयविजय! श्री जिन भगवान् द्वारा बतलाये हुए अहिंसा संयम आदि धर्म की ही शरण ग्रहण कर तथा उन्हीं के अत्यन्त पवित्र चरणकमलों का स्मरण कर। इन्हीं चरण-कमलों के ध्यान रूपी अवलम्बन से संसार रूपी समुद्र से पार हो जायगा। कहा भी है, "आलम्बनं भवजले पततां जनानाम्"। अर्थात् संसार रूपी सागर में डूबते हुए प्राणियों के लिये भगवान् के चरण-कमल ही अवलम्बन रूप हैं॥१॥

तुरगरथेभनराऽऽवृतिकलितं, दधतं बलमस्खलितम्।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघुमीनम्॥विन०॥

भावार्थ—जिस प्रकार धीवर गरीब छोटीसी २ मछली को बड़ी ही आसानी (सहज) से पकड़ लेता है वैसे ही यह निष्ठुर यमराज भी हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सिपाहियों की चतुरंगिणी सेना को रखने वाले पराक्रमी राजा को भी मौत के घाट उतार देता है। अर्थात् इसके सामने किसी का कुछ वश नहीं चलता। बाकी बचे हुए विनय इत्यादि दो पदों का अर्थ पूर्व की तरह जानना॥२॥

प्रविशति वज्रमये यदि सदने । तृणमथ घटयति वदने ॥
तदपि न मुञ्चति हतसमवर्ती । निर्दयपौरुषवर्ती ॥विन०॥३॥

भावार्थ—यदि कोई प्राणी मृत्यु के डर से अपनी रक्षा के निमित्त वज्र के समान मजबूत घर में घुस जाय अथवा डर कर मुंह में तृण भी ग्रहण करले तो भी गरीब, अमीर, निर्बल, सबल, सब को मारने में समभाव रखनेवाला, निष्ठुर कर्म करने में प्रसन्नचित्त यह यमराज किसी हालत में उसे नहीं छोड़ता। सारांश यह है कि- बलवान् से बलवान् देव, दानव, मानव आदि कोई भी इस काल से न तो छूटे और न छूटेंगे। अतः मनुष्य मात्र को चाहिए कि यह वृथा अभिमान और दुराचार को छोड़ सदाचार को अपनाता हुआ भगवान का स्मरण करे ॥३॥

विद्यामंत्रमहौषधिसेवां । सृजतु वशीकृत–देवाम् ॥
रसतु रसायनमुपचयकरणं । तदपि न मुंञ्चति मरणम् ॥विन०।

भावार्थ—संसार में मनुष्य चाहे देवताओं को भी अपने वश में करने वाली विद्या, मंत्र, यंत्र, तंत्र, और औषधियों का सेवन करे, चाहे शरीर में बल और बुद्धि को बढ़ाने वाले रसायनों (स्वर्णादिभस्मों) का भक्षण करे तो भी काल तो उसे अपना ग्रास बना ही लेता है ॥४॥

वपुषि चिरं निरुणद्धि समीरम् । पतति जलधिपरतीरम् ॥
शिरसि गिरेरधिरोहति तरसा। तदपि न जीयति जरसा।विन०॥

सृजतीमसित-शिरोरुहललितम्। मनुजशिरः सितपलितम्॥
को विदधानां भुवनमरसम्। प्रभवति रोद्धुं जरसम् ॥विन०।६॥

भावार्थ—काले काले बालों से सुन्दर मनुष्य के शिर को सफेद बालों से युक्त करती हुई तथा मानव देह को बलहीन करती हुई इस जरा रूपी राक्षसी को रोकने में कौन समर्थ है ?। अर्थात् यह बुढ़ापा किसी के रोके नहीं रुकता और अपना प्रभुत्व प्राणियों पर जमा ही लेता है ॥६॥

उद्यत उग्ररुजा जनकायः। कः स्यात् तत्र सहायः॥
एकोऽनुभवति विधुरुपरागं। विभजति कोऽपि न भागम् ॥वि०

भावार्थ—इस संसार में जिस समय मनुष्य का यह सुन्दर शरीर भयानक रोगों से दबा लिया जाता है उस समय उसके कुटुम्ब आदि का कोई भी व्यक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकता। जैसे-अकेला चन्द्रमा राहु द्वारा ग्रसे जाने के दुःख को भोगता है परन्तु कोई भी उस दुःख के जरासे हिस्से को भी बांट कर ग्रहण नहीं करता ॥७॥

शरणमेक-मनुसर चतुरङ्गं। परिहर ममतासङ्गम्॥
विनय! रचय शिवसौख्यनिधानं। शान्तसुधारसपानम् ॥विनय०

भावार्थ—हे विनयी आत्मा ! जैसे इस अशरणभावना के चिन्तवन करने से श्री अनाथी-अणगार प्रमुख अनेक महात्मा परम सुख को प्राप्त हुए हैं। वैसे तूं व अन्य लोग भी अद्वितीय दान, शील, तप और भावनारूप, अथवा पश्चात्क्रमसे-मनुष्यत्व, सूत्र-श्रवण, सम्यक्त्वश्रद्धा और संयम प्राप्त कर उसको यथार्थ पालन करना इन चार अंग वाले धर्म की ही शरण जा और तेरे दिल में 'मेरा पुत्र' 'मेरी स्त्री' 'मेरा धन' आदि जो ममत्व बुद्धि है उसको निकाल बाहिर कर तथा मोक्ष और सौख्य की अक्षय

मगन शान्ति रूपी अमृत रस का पान कर। अथवा ग्रन्थकार अपने आप को सम्बोधित कर कहते हैं कि- हे विनयविजय! मोक्ष सुख के अक्षय कोष 'शान्तसुधारसभावना' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर जिससे तूं और दूसरे (इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले) भव्य जीव सभी अक्षय सुख के भागी बनोगे ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्ये भावार्थबोधिन्यां भाषाटीकायां
द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

दूसरी भावना में जीवों की अशरणता दिखलाई गई है। अशरण जीव संसार में भटकते रहते हैं। इस सम्बन्ध से अब क्रमप्राप्त तीसरी संसारभावना का विवेचन किया जाता है।

अथ तृतीया संसारभावना प्रारभ्यते—

शिखरिणी—छन्द—

इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरंतो दव इवो-
ल्लसल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुम्।
इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला,
कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने? ॥१॥

भावार्थ—इधर एक ओर वन की अग्नि की तरह बुरे परिणाम वाला लोभ चित्त में संताप उत्पन्न करता है। दिन व दिन बढ़ती हुई वह लोभ रूपी अग्नि लाभ रूपी जल से किसी भी प्रकार शान्त नहीं की जा सकती। इधर दूसरी ओर मृग की तृष्णा के समान निष्फल आशा इन्द्रियों को व्याकुल करती है। इस प्रकार अनेक प्रकार के भय से डरावने इस संसार रूपी जङ्गल में हम निर्भय हो कर कैसे रह सकते हैं? ॥१॥

गलत्येका चिन्ता भवति पुनरन्या तदधिका ।
मनोवाक्कायेहा विकृतिरतिरोषात्तरजसः ॥
विपद्गर्त्ताऽऽवर्त्ते झटिति पतयालोः प्रतिपदम् ।
न जन्तोः संसारे भवति कथमप्यार्तिविरतिः ॥२॥

भावार्थ—दुःखरूपी कीचड़ से भरे हुए इस संसाररूपी गड्ढे में पग पग पर गोते खाते हुए प्राणी की जब तक एक चिन्ता दूर होती है तब तक उस से भी अधिक दूसरी चिन्ता उसके दिल में स्थान कर लेती है। मन, वचन और काया की इच्छा के राग, द्वेष, क्रोध और लोभ आदि विकार से प्राप्त रजोगुण से युक्त प्राणी के दुःख का नाश इस संसार में किसी भी प्रकार से नहीं होता है ॥२॥

सहित्वा सन्तापानशुचिजननीकुक्षिकुहरे ।
ततो जन्म प्राप्य प्रचुरतरकष्टक्रमहतः ॥
सुखाऽऽभासैर्यावत् स्पृशति कथमप्यर्तिविरतिम् ।
जरा तावत् कायं कवलयति मृत्योः सहचरी ॥३॥

भावार्थ—अपवित्र माता के उदर (पेट) रूपी गुफा में अनेक प्रकार के दुःखों को सह करके बाद में अत्यधिक कष्टों से कातर होता हुआ प्राणी जन्म लेकर के जब तक मिथ्या सुख के भान से किसी प्रकार अपने दुःखों का नाश कर पाता है तब तक आकर के मृत्यु की सखी (साथिन) जरा (बुढ़ापा) शरीर को ग्रस-सा लेती है। अर्थात् बुढ़ापा आकर शरीर को शिथिल करके उसके सारे सुखों पर पानी फेर देता है ॥३॥

इन्द्रवज्रा-छन्द—

विभ्रान्तचित्तो बत ! बम्भ्रमीति । पक्षीव रुद्धस्तनुपञ्जरेऽङ्गी ॥

शान्ति रूपी अमृत रस का पान कर। अथवा ग्रन्थकार अपने आप को सम्बोधित कर कहते हैं कि- हे विनयविजय! मोक्ष सुख के अक्षय कोष 'शान्तसुधारसभावना' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर जिससे तूं और दूसरे (उस ग्रन्थ को पढ़ने वाले) भव्य जीव सभी अक्षय सुख के भागी बनोगे ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्ये भावार्थबोधिन्यां भाषाटीकायां द्वितीय प्रकाशः समाप्तः ॥

दूसरी भावना में जीवों की अशरणता दिखलाई गई है। अशरण जीव संसार में भटकते रहते हैं। इस सम्बन्ध से अब क्रमप्राप्त तीसरी संसारभावना का विवेचन किया जाता है।

अथ तृतीया संसारभावना प्रारभ्यते—

शिखरिणी-छन्द—

इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरंतो दव इवो-
ल्लसँल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुम्।
इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला,
कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने? ॥१॥

भावार्थ—इधर एक ओर वन की अग्नि की तरह बुरे परिणाम वाला लोभ चित्त में संताप उत्पन्न करता है। दिन ब दिन बढ़ती हुई वह लोभ रूपी अग्नि लाभ रूपी जल से किसी भी प्रकार शान्त नहीं की जा सकती। इधर दूसरी ओर मृग की तृष्णा के समान निष्फल आशा इन्द्रियों को व्याकुल करती है। इस प्रकार अनेक प्रकार के भय से डरावने इस संसार रूपी जंगल में हम निर्भय हो कर कैसे रह सकते हैं? ॥१॥

गलत्येका चिन्ता भवति पुनरन्या तदधिका।
मनोवाक्कायेहा विकृतिरतिरोषात्तरजसः॥
विपद्गर्त्ताऽऽवर्ते झटिति पतयालोः प्रतिपदम्।
न जन्तोः संसारे भवति कथमप्यर्तिविरतिः॥२॥

भावार्थ—दुःखरूपी कीचड़ से भरे हुए इस संसाररूपी खड्डे में पग पग पर गोते खाते हुए प्राणी की जब तक एक चिन्ता दूर होती है तब तक उस से भी अधिक दूसरी चिन्ता उसके दिल में स्थान कर लेती है। मन, वचन और काया की इच्छा के राग, द्वेष, क्रोध और लोभ आदि विकार से प्राप्त रजोगुण से युक्त प्राणी के दुःख का नाश इस संसार में किसी भी प्रकार से नहीं होता है॥२॥

सहित्वा सन्तापानशुचिजननीकुक्षिकुहरे।
ततो जन्म प्राप्य प्रचुरतरकष्टक्रमहतः॥
सुखाऽऽभासैर्यावत् स्पृशति कथमप्यर्तिविरतिम्।
जरा तावत् कायं कवलयति मृत्योः सहचरी॥३॥

भावार्थ—अपवित्र माता के उदर (पेट) रूपी गुफा में अनेक प्रकार के दुःखों को सह करके बाद में अत्यधिक कष्टों से कायर होता हुआ प्राणी जन्म लेकर के जब तक मिथ्या सुख के भान से किसी प्रकार अपने दुःखों का नाश कर पाता है तब तक आकर के मृत्यु की सखी (साथिन) जरा (बुढ़ापा) शरीर को ग्रस-खा लेती है। अर्थात् बुढ़ापा आकर शरीर को शिथिल करके उसके सारे सुखों पर पानी फेर देता है॥३॥

इन्द्रवज्रा—छन्द—

विभ्रान्तचित्तो बत! बंभ्रमीति। पक्षीव रुद्धस्तनुपञ्जरेऽङ्गी॥

नुन्नो नियत्याऽतनुकर्मतन्तु-संदानितः सन्निहितान्तकौतुः ॥४॥

भावार्थ—यह बड़े ही खेद की बात है कि जिस प्रकार दुर्भाग्य से पिंजड़े में बन्द किया हुआ पक्षी पास में खड़े बिड़ाल को देखकर घबरा कर आँखें मूंद लेता है और पिंजड़े में ही चक्कर काटने लगता है उसी प्रकार भाग्यवश अनन्त कर्म रूपी डोरी से बंधा हुआ तथा यमराज रूपी बिड़ाल के पास में खड़े होने से व्याकुल चित्त वाला यह जीव इधर उधर योनियों में अत्यन्त भटकता रहता है ॥४॥

अनुष्टुप्-छन्द—

अनन्तान् पुद्गलावर्ता-ननन्ताऽनंतरूपभृत् ।
अनन्तशो भ्रमत्येव, जीवोऽनादिभवार्णवे ॥५॥

भावार्थ—इस अनादि संसार रूपी समुद्र में अनन्तानन्त रूपों को धारण करने वाला यह जीवात्मा अनन्त पुद्गलपरावर्तन काल पर्यन्त अनेक बार भ्रमता ही रहता है ॥५॥

तृतीयभावनाष्टकं केदाररागेण गीयते—

कलय संसारमतिदारुणम्, जन्ममरणादिभयभीत रे! ।
मोहरिपुणेह सगलग्रहम्, प्रतिपदं विपदमुपनीत रे! ॥(क०)१॥

भावार्थ—हे नीचातिनीच जीव! इस सार हीन संसार में मोह रूपी शत्रु से कण्ठ में पकड़ा हुआ, पग पग पर तकलीफ़ उठाता हुआ और जन्म मरण, जरा आदि के डर से डरा हुआ तू इस संसार को अत्यन्त भयानक (डरावना) जान ॥१॥

स्वजनतनयादिपरिचयगुणै-रिह मुधा बध्यसे मूढ रे! ।
प्रतिपदं नवनवैरनुभवैः, परिभवैरसकृदुपगूढ रे! ॥(कल०)२॥

भावार्थ—हे मूर्ख आत्मा! अपने पुत्र, मित्र कलत्र, माता,

पिता आदि कुटुम्बियों के स्नेह रूपी रस्सियों से इस संसार में तूं वृथा क्यों वन्धन को प्राप्त होता है ?। हे आत्मा ! तूं पग पग पर (क्षण क्षण में) नये नये विषय के भोगों के अनुभवों से वारम्बार क्यों तिरस्कृत होता है ? ॥२॥

घटयसि क्वचन मदमुन्नतेः, क्वचिदहो ! हीनतादीन रे ! ।
प्रतिभवं रूपमपराऽपरं, वहसि बत ! कर्मणाऽधीन रे ! ॥क० ३॥

भावार्थ—हे आत्मा ! हमें इस बात का बड़ा भारी आश्चर्य है कि तुम कभी तो धन के घमण्ड से फूले नहीं समाते हो और कभी तुम दरिद्रता के चंगुल में फँस कर दीन बन जाते हो। हे आत्मा ! यह बड़े खेद की बात है कि तुम शुभ और अशुभ कर्मों के आधीन हो कर जन्म जन्म के प्रति भिन्न २ रूपों को धारण करते हो। सारांश यह है कि-यह जीव इस संसार रूपी रंगमण्डप पर आकर कर्म के अधीन हो कर नट की तरह अनेक प्रकार के रूप बना लेता है ॥३॥

जातु शैशवदशापरवशो, जातु तारुण्यमदमत्त रे ! ।
जातु दुर्जयजराजर्जरो, जातु पितृपतिकराऽऽयत्त रे ! ॥क० ४॥

भावार्थ—हे आत्मा ! तुम एक ही जन्म में कभी तो बाल्यावस्था के आधीन हो जाते हो, कभी जवानी के मद से मस्ती में घूमने लगते हो, कभी प्रबल वृद्धावस्था से जर्जर (दुर्बल) हो कर हर बात से कायर हो जाते हो और कभी यमराज के हाथों में भी चले जाते हो। हे आत्मा ! तुम्हारी लीला बड़ी विचित्र है सर्वज्ञ के सिवाय किसी के भी समझ में नहीं आती ॥४॥

व्रजति तनयोऽपि ननु जनकतां, तनयतां व्रजति पुनरेष रे ! ।
भावयन् विकृतिमिति भवगते-स्त्यजतमां नृभवशुभशेष रे !क०॥

भावार्थ—हे अज्ञानी आत्मा ! तू आँख खोल कर देख, नि-

क्षय कर के जो प्राणी पूर्व जन्म में पुत्र था, वही इस भव में पितृपद को प्राप्त है। फिर वही प्राणी अन्य भव में पितृपद को छोड़ कर पुत्रपन को प्राप्त होता है। अतः मनुष्य जन्म के बाकी बचे हुए पुण्यवाला तूं संसार की विचित्र लीला के विपरीत भाव का चित्त मे विचार करता हुआ इन संसार सम्बन्धी कारणों का शीघ्र ही त्याग कर दे ॥५॥

यत्र दुःखाऽऽतिगददवलवै,-रनुदिनं दह्यसे जीव रे!।
हन्त! तत्रैव रज्यसि चिरं, मोहमदिरामदक्षीब रे! ॥क० ६॥

भावार्थ—हे जीव! जिस संसार में अथवा विषय सुख में तुम दुःख, पीड़ा और रोग रूपी वन की अग्नि के कणों से सदैव जलाये जाते हो। तो भी उसी विषय सुख में अथवा संसार में मोह रूपी शराब के नशे से बहुत ही समय उन्मत्त हो कर फूले न समाते हो। यह हमें बड़ा भारी दुःख है ॥६॥

दर्शयन् किमपि सुखवैभवं, संहरंस्तदथ सहसैव रे!।
विप्रलम्भयति शिशुमिव जनं, कालबटुकोऽयमत्रैव रे! ॥क०७॥

भावार्थ—हे आत्मा! इस असार संसार में यह प्रसिद्ध यमराज रूपी ठग, मनुष्य को थोड़े से सुख और ऐश्वर्य की झांकी दिखाकर, फिर अचानक ही उस क्षणिक सुख और ऐश्वर्य का एकदम अपहरण करता हुआ, अज्ञानी मनुष्य को भोले बालक की तरह फुसला (लुभा) कर ठगता है ॥७॥

सकलसंसारभयभेदकं, जिनवचो मनसि निबधान रे!।
विनय परिणमय! निःश्रेयसं, विहितशमरससुधापान रे! ॥क०८॥

भावार्थ—हे मोक्ष की इच्छा वाले आत्मा! संसार सम्बन्धी सभी दुःखों को विनष्ट करने वाले श्रीजिनेन्द्र भगवान् के सूक्त वचनों को तुम अपने हृदय में धारण करो और शान्ति

रूपी अमृतरस के पान करने वाले तुम मोक्ष को प्राप्त करो, जैसे इस 'संसार-भावना' के विचार के प्रताप से ही शालिभद्र मुनि एकावतारी हुए और वे दूसरे ही भव में सभी कर्मों के दुःखों से छूटकर शिवरमणी सुख भोक्ता बनेंगे ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्यां
भाषाटीकायां तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ चतुर्थी 'एकत्व-भावना' प्रारभ्यते-

इससे पहले तीसरी 'संसार-भावना' कही गई है। संसार में तो यह जीव शुभाऽशुभ कर्मों के अधीन होकर अकेला ही घूमता रहता है। इस सम्बन्ध से अब चौथी 'एकत्व-भावना' का विवेचन किया जाता है।

स्वागता-छन्द-

एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञान-दर्शन-तरङ्ग-सरङ्गः ।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद्, व्याकुलीकरणमेव ममत्वम् ॥१॥

भावार्थ—ज्ञान और दर्शन की लहरों से शोभायमान केवल यह एक आत्मा ही सर्वशक्तिमान् है और इस आत्मा से जो भिन्न पदार्थ हैं वे सभी अनित्य (नाशवान्) हैं। मेरी स्त्री, मेरा पुत्र आदि जो यह प्राणी की ममत्व बुद्धि है वही तो केवल इस आत्मा को दुःख देने वाली है ॥१॥

वैतालीय-छन्द-

अबुधैः परभावलालसा-लसदज्ञानदशावशात्मभिः ।
परवस्तुषु हा ! स्वकीयता, विषयाऽऽवेशवशाद्धि कल्प्यते ॥२॥

भावार्थ—भिन्न २ जीव और अजीव पदार्थों की प्राप्ति की बलवती इच्छा से, प्रतिदिन बढ़ती हुई अज्ञान की दशा के

श्रय कर के जो प्राणी पूर्व जन्म में पुत्र था, वही इस भव में पितृपद को प्राप्त है। फिर वही प्राणी अन्य भव में पितृपद को छोड़ कर पुत्रपन को प्राप्त होता है। अतः मनुष्य जन्म के बाकी बचे हुए पुण्यवाला तूं संसार की विचित्र लीला के विपरीत भाव का चित्त में विचार करता हुआ इन संसार सम्बन्धी कारणों का शीघ्र ही त्याग कर दे ॥५॥

यत्र दुःखाऽऽर्तिगदवलवै,-रनुदिनं दह्यसे जीव रे!।
हन्त! तत्रैव रज्यसि चिरं, मोहमदिरामदक्षीव रे! ॥क० ६॥

भावार्थ—हे जीव! जिस संसार में अथवा विषय सुख में तुम दुःख, पीड़ा और रोग रूपी वन की अग्नि के कणों से सदैव जलाये जाते हो। तो भी उसी विषय सुख में अथवा संसार में मोह रूपी शराब के नशे से बहुत ही समय उन्मत्त हो कर फूले न समाते हो। यह हमें बड़ा भारी दुःख है ॥६॥

दर्शयन् किमपि सुखवैभवं, संहरंस्तदथ सहसैव रे!।
विप्रलम्भयति शिशुमिव जनं, कालबटुकोऽयमत्रैव रे! ॥क०७॥

भावार्थ—हे आत्मा! इस असार संसार में यह प्रसिद्ध यमराज रूपी ठग, मनुष्य को थोड़े से सुख और ऐश्वर्य की झांकी कराकर, फिर अचानक ही उस क्षणिक सुख और ऐश्वर्य का एकदम अपहरण करता हुआ, अज्ञानी मनुष्य को भोले बालक की तरह फुसला (लुभा) कर ठगता है ॥७॥

सकलसंसारभयभेदकं, जिनवचो मनसि निवधान रे!।
विनय परिणमय! निःश्रेयसं, विहितशमरससुधापान रे! ।क०८॥

भावार्थ–हे मोक्ष की इच्छा वाले आत्मा! संसार सम्बन्धी सभी दुःखों को विनष्ट करने वाले श्रीजिनेन्द्र भगवान् के अमूल्य वचनों को तुम अपने हृदय में धारण करो और शान्ति

रूपी अमृतरस के पान करने वाले तुम मोक्ष को प्राप्त करो, जैसे इस 'संसार-भावना' के विचार के प्रताप से ही शालिभद्र मुनि एकावतारी हुए और वे दूसरे ही भव में सभी कर्मों के दुःखों से छूटकर शिवरमणी सुख भोक्ता बनेंगे ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्यां
भाषाटीकाया तृतीयः प्रकाशः समाप्तः॥

अथ चतुर्थी 'एकत्व-भावना' प्रारभ्यते-

इससे पहले तीसरी 'संसार-भावना' कही गई है। संसार मे तो यह जीव शुभाऽशुभ कर्मों के अधीन होकर अकेला ही घूमता रहता है। इस सम्बन्ध से अब चौथी 'एकत्व-भावना' का विवेचन किया जाता है।

स्वागता-छन्द-

एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञान-दर्शन-तरङ्ग-सरङ्गः।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद्, व्याकुलीकरणमेव ममत्वम् ॥१॥

भावार्थ—ज्ञान और दर्शन की लहरों से शोभायमान केवल यह एक आत्मा ही सर्वशक्तिमान् है और इस आत्मा से जो भिन्न पदार्थ हैं वे सभी अनित्य (नाशवान्) हैं। मेरी स्त्री, मेरा पुत्र आदि जो यह प्राणी की ममत्व बुद्धि है वही तो केवल इस आत्मा को दुःख देने वाली है ॥१॥

वैतालीय-छन्द-

अबुधैः परभावलालसा-लसदज्ञानदशावशात्मभिः।
परवस्तुषु हा! स्वकीयता, विषयाऽऽवेशवशाद्वि कल्प्यते ॥२॥

भावार्थ—भिन्न २ जीव और अजीव पदार्थों की प्राप्ति की बलवती इच्छा से, प्रतिदिन बढ़ती हुई अज्ञान की दशा के

आधीन आत्मावाले, मूर्ख लोग, विषयप्रेमी होने से दूसरों के पदार्थों में स्वात्मबुद्धि (अपनापन) की कल्पना करते है। यह बड़े ही खेद की बात है ॥२॥

कुतिनां दयितेति चिन्तनं, परदारेषु यथा विपत्तये ।
विविधाऽऽतिभयाऽऽवहं तथा, परभावेषु ममत्वभावनम् ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार दूसरे की स्त्री में अपनी स्त्री की भावना, विद्वानों को भी उभय लोक मे दुःख देने वाली है। उसी प्रकार दूसरों के पदार्थों में 'यह मेरा है २' ऐसी ममत्व की बुद्धि भी उनके लिए तरह तरह के दुःख और भय को देने वाली है। अतः हे भव्यो ! आप लोग इस लोक तथा परलोक में यदि सुखी होना चाहते हैं तो अवश्य ममत्व बुद्धि का त्याग करें ॥३॥

अधुना परभावसंवृतिं, हर चेतः ! परितोऽवगुण्ठितम् ।
क्षणमात्मविचारचन्दन-द्रुमवातोर्मिरसाः स्पृशन्तु माम् ॥४॥

भावार्थ—हे चित्त ! इस समय चारों ओर से ज्ञान को ढकने वाली परभाव रूपी बाड़ को दूर कर जिससे आत्मज्ञान रूपी चन्दन वृक्ष के सम्पर्क (मिलने) से शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु की लहरों के कण, मुझे क्षण भर छूकर सुखी करें ऐसा सुविचार कर ॥४॥

अनुष्टुप्-वृत्त-

एकतां समतोपेता,-मेनामात्मन् ! विभावय ।
लभस्व परमानन्द,-सम्पदं नमिराजवत् ॥५॥

भावार्थ—हे आत्मा ! तुम अनादि काल से अकेले ही उत्पन्न होते हो और अकेले ही मरते हो तथा अकेले ही कर्म बाँधते हो एवं अकेले ही बाँधे हुए कर्मों के फलों का भी अनुभव करते हो। अत. पुत्र, कलत्र, मित्र आदि कुटुम्बियों ने न तो कभी तुम्हारा

साथ दिया और न वे कभी देंगे। इस प्रकार हे प्राणी! जीवमात्र में समभाव रखने वाली इस 'एकत्व-भावना' का अपने दिल में विचार कर जिससे कि तूं नमिराजर्षि की तरह अनन्त सुख की खान मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करेगा ॥५॥

अथ चतुर्थीभावनाष्टकं परजीया-रागेण गीयते-

अब एकत्वभावना के अष्टक की व्याख्या लिखी जाती है।

"विनय! चिन्तय वस्तुतत्त्वं, जगति निजमिह कस्य किम्?"।
भवति मतिरिति यस्य हृदये, दुरितमुदयति तस्य किम्! ॥वि०॥

भावार्थ—हे विनयविजय अथवा हे मोक्षार्थी जीव! तूं अपने चित्त में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का तल्लीन (एकाग्र) हो कर ध्यान कर। इस असार संसार में कौन किसका सम्बन्धी है? अर्थात् कोई किसी का नहीं है। सब अपने अपने स्वार्थ के साथी हैं। जिसके निर्मल हृदय में ऐसी बुद्धि का निवास है उसके क्या पाप उत्पन्न होते हैं? अर्थात् नहीं होते। पापों का उत्पन्न होना तो दूर रहा पर पाप उसके पास भी नही आते ॥१॥

एक उत्पद्यते तनुमा,-नेक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते, सैककः फलमश्नुते ॥विन०॥२॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा! देख तो सही यह जीव अकेला ही भवान्तर से आकर इस संसार में उत्पन्न होता है और फिर अकेला ही यह शरीरधारी जीव मृत्यु को प्राप्त होता है। निश्चय करके यह जीव अकेला ही भले और बुरे कर्मों को एकत्रित करता है तथा अकेला ही उन किये हुए कर्मों का फल भोगता है। कोई दूसरा उसका भागीदार नहीं होता ॥२॥

यस्य यावान् परपरिग्रहो, विविधममतावीवधः।
जलधिविनिहितपोतयुक्त्या, पतति तावदसावधः ॥विन०॥३॥

भावार्थ—जिस जीव के जितने परिमाण में भिन्न भिन्न धन धान्य, हाथी घोड़े आदि का परिग्रह होता है। उतने ही परिमाण में अनेक प्रकार के ममता रूपी बहंगी (कावड़) के भार से युक्त वह जीव समुद्र में रही हुई नाव की तरह अधोगति को प्राप्त होता है। सारांश यह है कि–जहाज के अन्दर जितना ज्यादा बोझा (भार) होगा उतना ही ज्यादा उसका नीचे का भाग समुद्र के पानी में डूबेगा। उसी मुताबिक जिस जीव के पास जितना अधिक परिग्रह होगा उतना ही वह जीव अधिकाधिक परिणाम (अन्त) में नरक भोगेगा ॥३॥

स्वस्वभावं मद्यमुदितो, भुवि विलुप्य विचेष्टते।
दृश्यतां परभावघटनात्, पतति विलुठति जृंभते ॥विनय०॥४॥

भावार्थ—हे प्राणियो! देखो! जिस प्रकार इस संसार में शराव (मदिरा) पीने से प्रमत्त होता हुआ पुरुष अपने स्वभाव को छोड़ करके उसके विरुद्ध चेष्टा करता है। पग पग पर गिरता है, पृथ्वी पर मछली की तरह तड़फता है और फिरता गिरता हुआ मुँह फाड़ कर दुःखी होता है। ठीक–उसी प्रकार पृथक् २ परभावों के संयोग से यह जीव नरक में गिरता है और नरक के दुःखों से दुःखी होकर जलहीन मछली की तरह लोटता है, घबराता है तथा अत्यन्त दुःखी होता है ॥४॥

पृथक् भाव होने से विरूपफल ही प्राप्त होता है यह आगे के श्लोक में बताया जाता है।

पश्य काञ्चनमितरपुद्गल,–मिलितमंचति कां दशाम्।
केवलस्य तु तस्य रूपं, विदितमेव भवादृशाम् ॥विन०॥५॥

भावार्थ—हे प्राणियो! देखो! तांवा आदि अन्य धातुओं के परमाणुओं से मिला हुआ सोना कैसी मलिन दशा को प्राप्त हो जाता है। उस निखालिस सोने की जैसी निर्मल कान्ति होती

है वह आप जैसे सुबुद्धिमान् ज्ञानियों से छिपी हुई नहीं है अर्थात् आप स्वयं उस कान्ति के स्वरूप को जानते हैं। सारांश यह है कि–जिस प्रकार असली सोना अन्य धातुओं के मेल से मलिन हो जाता है वैसे ही यह निर्मल जीव भी ममत्वादि दोषों से दुर्गत्यादिरूप मल से मलिन हो जाता है ॥५॥

एवमात्मनि कर्मवशतो, भवति रूपमनेकधा।
कर्ममलरहिते तु भगवति, भासते काञ्चनविधा ॥विन०॥६॥

भावार्थ—हे प्राणियो! इस प्रकार शुभ और अशुभ कर्मों के सम्बन्ध से यह आत्मा बहुरूपिये की तरह अनेकों रूप धारण करता है। परन्तु शुभ और अशुभ आठ प्रकार के कर्मों के नष्ट हो जाने पर वह आत्मा उस सिद्ध परमात्मा में कुंदन (तपे हुए सोने) की तरह प्रकाशमान होता है अर्थात् परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥६॥

ज्ञानदर्शनचरणपर्याय–परिवृतः परमेश्वरः।
एक एवाऽनुभवसदने, स रमतामविनश्वरः ॥विन०॥७॥

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन वास्तविक गुणों से युक्त, केवल अविनाशी वह वीतराग परमात्मा मेरे ध्यान रूपी घर में हमेशा रमण (क्रीड़ा) करे ॥७॥

रुचिरसमताऽमृतरसं क्षण,–मुदितमास्वादय मुदा।
विनय! विषयाऽतीतसुखरस,–रतिरुदञ्चतु ते सदा ॥विन०॥८॥

भावार्थ—हे विनयविजय! अथवा हे मुमुक्षु जीव! तूं बड़ी ही प्रसन्नता के साथ मधुर समता रूपी अमृतरस का पान कर और उस क्षण भर के ही पान से, उस अलौकिक आनन्द के स्वाद में तुम्हारा प्रेम दिनोदिन बढ़ता रहे ॥८॥

इस प्रकार स्वरूप के चिंतवन करने को 'एकत्व–भावना' क-

हते हैं। इस भावना के चिंतवन करने से 'नमिराजर्षि' परम सुख-मोक्ष को प्राप्त हुए।

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकायां चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमी 'अन्यत्व-भावना' प्रारभ्यते—

चौथी 'एकत्व-भावना' मे एकत्व का विचार किया गया है। अपने को एकत्व ज्ञान हो जाने से, दूसरे पदार्थों में, अन्यत्व का ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध से पॉचवी 'अन्यत्व-भावना' का अब विवेचन किया जाता है।

उपजाति-छन्द-

परः प्रविष्टः कुरुते विनाशं, लोकोक्तिरेषा न मृषेति मन्ये।
निर्विश्य कर्माऽणुभिरस्य किं किं, ज्ञानात्मनो नो समपादि कष्टम्॥

भावार्थ—अपने घर में प्रवेश किया हुआ शत्रु सम्पत्ति और संतान आदि का नाश करता है। यह लोगों की जो किम्वदन्ती-कथन है उसे मै मिथ्या नहीं मानता। क्योंकि-ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के पुद्गलों ने इस आत्मा के प्रदेशों में घुसकर इस चेतन-जीव को क्या क्या कष्ट नहीं दिये? अर्थात् इस आत्मा को इन कर्मपुद्गल रूपी शत्रुओंने कई प्रकार के कष्ट दिये ॥१॥

स्वागता-छन्द-

खिद्यसे ननु किमन्यकथाऽऽर्तः, सर्वदैव ममतापरतन्त्रः।
चिन्तयस्यनुपमान् कथमात्मन्!, आत्मनो गुणमणीन्न कदापि ॥

भावार्थ—हे प्राणी! यह मेरे पालन करने के योग्य है और मै इसका पालक हू। इस प्रकार की ममत्व भावना के आधीन होता हुआ तूं दिनरात पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कुटुम्बियों के

वस्त्र भोजन आदि के सम्पादन कार्य्य से दुःखी होकर तूं मन में क्यों खेद करता है?। रे अज्ञानी! अलौकिक आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुण रूपी अमूल्य रत्नों का समय मिलने पर भी तूं स्मरण क्यों नहीं करता? ॥२॥

शार्दूलविक्रीडित—छन्द—

यस्मै त्वं यतसे बिभेषि च यतो यत्राऽनिशं मोदसे,
यद्यच्छोचसि यद्यदिच्छसि हृदा यत्प्राप्य पेप्रीयसे।
स्निग्धो येषु निजस्वभावममलं निर्लोठ्य लालप्यसे,
तत्सर्वं परकीयमेव भगवन्नात्मन्! न किं चिन्तय ॥३॥

भावार्थ—हे ज्ञान वैराग्य आदि गुणों से युक्त आत्मा! जिन पुत्र, कलत्र आदि कुटुम्बियों के भरण-पोषण के लिये तुम तरह तरह के उद्योग करते हो, जिन लोकापवाद आदि कार्य्यों से डरते हो, जिस परिवार के प्रेम में रातदिन खुश रहते हो, जो पहले नष्ट हो चुके उन धन पुत्रादिकों का शोक करते हो, जिन जिन सांसारिक चाहे हुए पदार्थों की इच्छा करते हो, जिन राज-सन्मान आदि सत्कारों को पाकर हृदय से प्रसन्न होते हो, जिन वस्त्र आभूषण आदि प्रिय पदार्थों के प्रेमवश हो कर रत्न की तरह स्वच्छ अपने ज्ञानादि गुण के स्वभाव को छोड़कर वृथा बकवाद करते हो, वह सब दूसरों का ही है उन में तेरा थोड़ा सा भी हिस्सा नहीं है ॥३॥

दुष्टाः कष्टकदर्थनाः कति न ताः सोढास्त्वया संसृतौ,
तिर्यग्नारकयोनिषु प्रतिहतश्छिन्नो विभिन्नो मुहुः।
सर्वं तत्परकीयदुर्विलसितं विस्मृत्य तेष्वेव हा!,
रज्यन्मुह्यसि मूढ! तानुपचरन्नात्मन्! न किं लज्जसे? ॥४॥

भावार्थ—हे आत्मा! तूने इस संसार-चक्र में अनन्त दुःख

देने वाली कौन कौनसी तीव्र यातनाएँ-पीडाएँ न सहीं ?। तिर्यञ्च और नारकीय योनियों मे उत्पन्न होता हुआ तूं मुद्गर आदि से पीटा गया है। वारवार खड्ग आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटा गया है। वारवार कोमल अङ्गों में भाले, बर्छी आदि से छेदा गया है, तो भी तूं अपने से भिन्न जनों के विलास रूप पहले कहे हुए उन सव बुरे कर्मों को भूल करके उन्हीं में खुश होकर मोहित होता है। हे मूर्ख ! उन धन पुत्रादिकों के विलास को सेवन करते हुए तुझे शर्म क्यों नहीं आती ? ॥४॥

अनुष्टुप्-छन्द-

ज्ञान-दर्शन-चारित्र,-केतनां चेतनां विना।
सर्वमन्यद्विनिश्चित्य, यतस्व स्वहिताऽऽप्तये ॥५॥

भावार्थ—हे चेतन ! ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी ध्वजा-वाली चेतना (जीवसत्ता) के सिवाय संसार के पदार्थ मात्र को अपने से भिन्न समझ कर तूं अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए मन वचन और काया से सदैव प्रयत्न कर ॥५॥

अथ पञ्चमीभावनामुद्दिश्य श्रीरागेण गेयपद्याऽऽत्मकमष्टकं लिख्यते—

विनय ! निभालय निजभवनम् ,
तनु-धन-सुत-सदन-स्वजनादिषु।
किं निजमिह कुगतेरवनम् ? ॥विन०॥१॥

भावार्थ—हे विनयी आत्मा ! अथवा हे विनयविजय ! जरा अपने घर को आंखे खोल कर देखो तो सही। इस संसार मे शरीर, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र, गृह, धन और अपने कुटुम्बियों में से अपने को दुर्गति से बचाने वाला कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है ॥१॥

येन सहाऽऽश्रयसेऽतिविमोहा,-दिदमहमित्यविभेदम् ।
तदपि शरीरं नियतमधीरं, त्यजति भवन्तं धृतखेदम् ॥वि०॥२॥

भावार्थ—हे चेतन ! यद्यपि तुम अज्ञान की अधिकता से जिस शरीर के साथ, यह मैं ही हूं दूसरा नहीं ऐसा एकभाव मानते हो, तो भी यह नाशवान् शरीर निश्चय ही धीरज रहित तथा खेद युक्त तुम्हें छोड़ ही देता है ॥२॥

जन्मनि जन्मनि विविधपरिग्रह,-मुपचिनुपे च कुटुम्वम् ।
तेषु भवन्तं परभवगमने, नानुसरति कृशमपि सुखम् ॥वि०॥

भावार्थ—हे प्राणी ! जन्म जन्म में तरह तरह के पदार्थों के संग्रह रूप जिन परिग्रहों का तथा पुत्र, मित्र, कलत्रादि कुटुम्वियों का तुम पोपण करते हो उन तुम्हारे तरह तरह के परिग्रहों और कुटुम्बियों में से तुम्हारे परलोक जाने के समय एक छोटी सी तुच्छ कौड़ी भी तुम्हारे साथ नहीं चलती है। परलोक के मार्ग का साथी केवल एक धर्म ही है। अतः तुम उसी को अपनाओ ॥३॥

त्यज ममतापरितापनिदानं, परपरिचयपरिणामम् ।
भज निस्संगतया विशदीकृत,-मनुभवसुखमभिरामम् ॥वि०॥४॥

भावार्थ—हे आत्मा ! अपने से भिन्न पुत्र कलत्र धनादिकों में आत्मबुद्धि रखने तथा स्वशरीर पर अति प्रेम-ममता रखने के कारण प्राप्त होनेवाले नरकादि की पीड़ाओं के मूल कारण उन सभी विकारों का तुम त्याग करो और हे जीव ! संग रहित होकर तुम स्वच्छ तथा सुन्दर परिपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न सहजानन्द अनुभव सुख का सेवन करो ॥४॥

पथि पथि विविधपथैः पथिकैः सह, कुरुते कः प्रतिवन्धम् ? ।
निजनिजकर्मवशैः स्वजनैः सह, किं कुरुपे ममतावन्धम् ?॥वि०।५।

भावार्थ—हे प्राणी! जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मार्गों में जाने वाले यात्रियों के साथ प्रत्येक मार्ग में कोई भी ज्ञानी पुरुष प्रेम नहीं करता है। वैसे ही अपने अपने शुभ और अशुभ कर्म्मों के आधीन पुत्र कलत्रादि जनों के साथ ये सब मेरे हैं ऐसा विचार तुम्हें नहीं करना चाहिए। कारण कि—ये सब तुम्हारे कुटुम्बी अपने अपने कर्मानुसार भिन्न २ गतियों में जायँगे। इन मे से तेरे साथ चलनेवाला कोई भी नहीं है। अतः तूं इनमें क्यों वृथा प्रेम करता है?॥५॥

प्रणयविहीने दधदभिषङ्गं, सहते बहुसंतापम्।
त्वयि निःप्रणये पुद्गलनिचये, वहसि मुधा ममतातापम्॥वि०॥

भावार्थ—हे जीव! प्रेम रहित पुत्र कलत्र आदि जनों में जो अज्ञानी मनुष्य सुख की इच्छा से प्रेम करता है बाद में वही उनसे तिरस्कृत होकर तरह तरह के दुःखों को भोगता है। अतः हे आत्मा! तुम अपने पर, स्नेह रहित स्वर्ण, रत्न, शरीर आदि जड़ पदार्थों मे ममत्व भावना के रखने से उत्पन्न हुए दुःख रूपी बोझे को व्यर्थ ही मे क्यों धारण करते हो?॥६॥

त्यज संयोगं नियतवियोगं, कुरु निर्मलमवधानम्।
नहि विदधानः कथमपि तृप्यसि, मृगतृष्णाघनरसपानम्॥वि०॥

भावार्थ—हे प्राणी! तूं निश्चय करके विरहयोग से युक्त ऐसा कुल सम्बन्ध को छोड़ दे और मन को विकार रहित करके शुभ ध्यान द्वारा उसको स्थिर करने का उपाय कर। अगर ऐसा न करेगा तो इस असार संसार में मृगतृष्णा के जलपान की तरह तुच्छ से भी तुच्छ संसारी सुख को भोगता हुआ तूं किसी भी प्रकार से तृप्त नहीं होगा॥७॥

भज जिनपतिमसहायसहायं, शिवगतिसुगमोपायम्।
पिब गदशमनं परिहृतवमनं, शान्तसुधारसमनपायम्॥वि०॥८॥

भावार्थ—हे आत्मा! मोक्ष की प्राप्ति के सुगम मार्गरूप, सहाय रहित (अनाथ) पुरुषों की सहायता करने वाले दीनबन्धु जिनेश्वर भगवान् का तुम भजन करो अर्थात् उनके चरणकमलों की सेवा करो। विकारों से उत्पन्न जी की घबराहट वमन (उलटी) को दूर करने वाले और जन्म मरण तथा जरा आदि रोगों को समूल नष्ट करने वाले अमोघ (अचूक) महौषधि-शान्ति रूपी अमृत रस का सुपान करो ॥८॥

उपरोक्त प्रकार से अपने शरीर का चिन्तवन करना 'अन्यत्व-भावना' का विचार करना कहा जाता है। इस भावना का विचार करते हुए 'श्रीमृगापुत्र मुनि' आदि बहुत से पुण्यवान् प्राणी अक्षय सुख के भागी बन चुके हैं।

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या

भाषाटीकायां पञ्चम प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ षष्ठ्य'शुचिभावना' प्रारभ्यते—

पञ्चम प्रकाश में 'अन्यत्व-भावना' का विचार किया गया है। उस विचार से भव्यजन इस शरीर को अशुचि (अपवित्र) मानते हैं। अतः अब क्रम प्राप्त 'अशुचि-भावना' लिखी जाती है।

शार्दूलविक्रीडित-छन्द-

सच्छिद्रो मदिराघटः परिगलत्तल्लेशसङ्गाऽशुचिः,
शुच्याऽऽमृद्य मृदा बहिः स बहुशो धौतोऽपि गङ्गोदकैः।
नाऽऽधत्ते शुचितां यथा तनुभृतां कायो निकायो महा,-
बीभत्साऽस्थिपुरीषमूत्ररजसां नाऽयं तथा शुद्ध्यति ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार छेद युक्त होने से टपकती हुई मदिरा की बूंदों के संयोग से अपवित्र, मद्य से भरा हुआ घड़ा बाहिर की ओर मिट्टी के मलने से तथा गंगाजल से बारबार धोने जाने

पर भी शुद्ध नहीं होता। ठीक-उसी प्रकार अत्यन्त दुर्गन्धि से युक्त हाड़, मांस, मल, मूत्र, शुक्र, शोणित आदि का भण्डार यह देहधारियों का शरीर भी स्नानादि से शुद्ध नहीं होता ॥१॥

मन्दाक्रान्ता—छन्द—

स्नायं स्नायं पुनरपि पुनः स्नांति शुद्धाभिरद्भि,-
वारंवारं वत ! मलतनुं चन्दनैरर्चयन्ते।
मूढाऽऽत्मानो वयमपमलाः प्रीतिमित्याश्रयन्ते,
नो शुद्ध्यन्ते कथमवकरः शक्यते शोद्धुमेवम् ? ॥२॥

भावार्थ—हमें इस वात का वड़ा खेद है कि अज्ञानी लोग वारम्वार स्नान कर लेने के वाद भी फिर शुद्ध जल से, शरीर की शुद्धि के लिए, स्नान करते हैं और वारम्वार मलमय शरीर को चन्दन, कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थों के लेप से सुगन्धि-युक्त करते हैं। ऐसा करने से वे मूर्ख अपने को, अपने हृदय मे परम पवित्र मानते है तो भी शुद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि-मल से भरा हुआ यह अपवित्र शरीर इस प्रकार हमेशा शुद्धि करने पर भी कैसे शुद्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता ॥२॥

यह शरीर किसी भी प्रकार से पवित्र और कृतज्ञ नहीं हो सकता है, इस वात को दृष्टान्त के साथ अगले श्लोक में कहते हैं।

शार्दूलविक्रीडित—छन्द—

कर्पूरादिभिरर्चितोऽपि लशुनो नो गाहते सौरभं,
नाऽऽजन्मोपकृतोऽपि हन्त ! पिशुनः सौजन्यमालम्वते।
देहोऽप्येष तथा जहाति न नृणां स्वाभाविकीं विस्रतां,
नाऽभ्यक्तोऽपि विभूषितोऽपि वहुधा पुष्टोऽपि विश्वस्यते ॥३॥

भावार्थ—हे अज्ञानी जीव! जिस प्रकार कपूर, केशर और कस्तूरी आदि सुगन्धि पदार्थों से सुगन्धित किया हुआ भी लहशुन सुगन्धी को प्राप्त नहीं होता और जिस प्रकार जन्मभर उपकार करने पर भी दुर्जन मनुष्य सुजनता को प्राप्त नहीं होता। ठीक-उसी प्रकार मनुष्यों का यह शरीर भी अपनी प्राकृतिक (कुदरती) दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता है और भली प्रकार मर्दन, लेपन, तथा पोषण एवं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया हुआ भी यह शरीर विश्वास के योग्य नहीं है अर्थात् मृत्यु का समय आते ही यह शरीर चिरपरिचित स्नेही आत्मा को धोखा देकर क्षण भर में ही नष्ट हो जाता है। अत यह शरीर कृतघ्न है ॥३॥

उपेन्द्रवज्रा—वृत्त—

यदीयसंसर्गमवाप्य सद्यो, भवेच्छुचीनामशुचित्वमुच्चैः।
अमेध्ययोनेर्वपुषोऽस्य शौचं,-संकल्पमोहोऽयमहो! महीयान्॥

भावार्थ—हमें इस बात का बड़ा भारी आश्चर्य है कि-जिस शरीर के सम्पर्क-संयोग से शीघ्र ही पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं। जो मलमूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का पैदा करने वाला है ऐसे इस शरीर के पवित्र होने का मन में विचार करना भी कितनी बड़ी मूर्खता है ॥४॥

स्वागता—छन्द—

इत्यवेत्य शुचिवादमतथ्यं, पथ्यमेव जगदेकपवित्रम्।
शोधनं सकलदोषमलानां, धर्ममेव हृदये निदधीथाः॥५॥

भावार्थ—हे जीव! 'शरीर स्नानादि कार्यों से शुद्ध होता है' ऐसे वचनों को मिथ्या समझ कर तुम हमेशा हित करने वाले, संसार में अद्वितीय पवित्र, तथा कामादि सम्पूर्ण दोष रूपी मलों को दूर करने वाले ऐसे धर्म ही को हृदय में धारण करो क्यों कि-परलोक के मार्ग में धर्म ही प्राणी का साथी है ॥५॥

अथ पञ्चमशुचिभावनाष्टकमाशावरीरागेण गीयते—

"भावय रे! वपुरिदमतिमलिनम्,
विनय! विबोधय मानसनलिनम्" ।
पावनमनुचिन्तय विभुमेकम्,
परममहोमयमुदितविवेकम् ॥भाव०॥१॥

भावार्थ—रे चेतन! इस शरीर को दुर्गन्ध की खान समझ कर तुम अपने हृदय रूपी कमल को ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से विकसित करो अर्थात् प्रफुल्लित करो और हे जीव! पवित्र करने वाले, अद्वितीय, ज्योतिस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, विचारशील आत्मा का तुम अपने दिल में वारम्वार शुभ ध्यान करो ॥१॥

दम्पतिरेतोरुधिरविवर्ते, किं शुभमिह मलकश्मलगर्ते? ।
भृशमपि पिहितः स्रवति विरूपं, को बहु मनुतेऽवस्करकूपम् ॥भा०

भावार्थ—हे जीव! स्त्री-पुरुषों के रज और वीर्य तथा लोहू से बने हुए, मल मूत्र, लार और कफ पित्त आदि मलों से तथा पापसमूह से भरे हुए खड्डे (खाई) के तुल्य इस शरीर का कौन सा अवयव सुन्दर है? अर्थात् इसका कोई भी अवयव सुन्दर नहीं है। हे चेतन! अधिक क्या कहें, वस्त्रादिकों से ढके रहने पर भी इस शरीर से हमेशा अधिक दुर्गन्ध युक्त पदार्थ झरते ही रहते हैं। अतः मलमूत्रादि से भरे हुए कचरे के कूए के समान इस देह को कौन ज्ञानी मनुष्य उत्तम (सुन्दर) मानता है? अर्थात् कोई भी उसे उत्तम नहीं मानता ॥२॥

भजति सचन्द्रं शुचि ताम्बूलम्, कर्तुं मुखमारुतमनुकूलम् ।
तिष्ठति सुरभि कियन्तं कालं, मुखमसुगन्धि जुगुप्सितलालम् ॥भा०

भावार्थ—हे जीव! इस असार संसार में मूर्ख लोग अपने

मुख की हवा को सुगन्धित बनाने के लिए कपूर और इलायची आदि सुगन्धित पदार्थों से युक्त नागरवेल के पान को खाते हैं। तथापि दुर्गन्ध और खराब लार से युक्त उनका वह मुख कृत्रिम (बनावटी) सुगन्ध से थोड़ी ही देर तक सुगन्धित रहता है। हमेशा के लिए नहीं ॥३॥

असुरभिगन्धवहोऽन्तरचारी, आवरितुं शक्यो न विकारी।
वपुरुपजिघ्रसि वारंवारं, हसति बुधस्तव शौचाऽऽचारम् ॥शा० ४॥

भावार्थ—हे अज्ञानी जीव ! अनेक विकारों से युक्त, शरीर के भीतर चलने वाला, दुर्गन्ध से मिला हुआ यह श्वास का पवन सुगन्धित पदार्थों से सुगन्धयुक्त नहीं किया जा सकता। तो भी हे चेतन ! तू तरह तरह के सुगन्धित पदार्थों से शरीर को जब लीप कर उसे बारबार सूंघता है तब तेरे इस देहशुद्धि के व्यापार को देख कर ज्ञानी लोग हंसते हैं ॥४॥

द्वादश नव रन्ध्राणि निकामम्, गलदशुचीनि न यान्ति विरामम्।
यत्र वपुषि तत्कलयसि पूतम्, मन्ये तव नूतनमाकूतम् ॥५॥

भावार्थ—हे चेतन ! जिस विनश्वर (नाशवान्) शरीर में अत्यन्त अपवित्र कफ पित्त धातु मल मूत्र आदि वस्तुओं को बहाने वाले स्त्रियों के बारह और पुरुषों के नव द्वार क्षण भर के लिए भी विश्राम को प्राप्त नहीं होते हैं। हे जीव ! ऐसे निन्दनीय शरीर को भी जो तूं अज्ञान से पवित्र मानता है। इसी कारण से मैं तेरे इस अभिप्राय को बिलकुल नया मानता हूं क्योंकि-ऐसा अभिप्राय ज्ञानियों में नहीं देखा जाता ॥५॥

अशितमुपस्करसंस्कृतमन्नम्, जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम्।
पुंसवनं धेनुपयमपि लीढम्, भवति विगर्हितमति जनमीढम् ॥

भावार्थ—हे चेतन ! यह तो तुम भली भांति हमेशा देखते

अथ षष्ठ्यशुचिभावनाष्टकमाशावरीरागेण गीयते—

"भावय रे! वपुरिदमतिमलिनम्,
विनय! विबोधय मानसनलिनम्"।
पावनमनुचिन्तय विभुमेकम्,
परममहोमयमुदितविवेकम् ॥भाव०॥१॥

भावार्थ—रे चेतन! इस शरीर को दुर्गन्ध की खान समझ कर तुम अपने हृदय रूपी कमल को ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से विकसित करो अर्थात् प्रफुल्लित करो और हे जीव! पवित्र करने वाले, अद्वितीय, ज्योतिस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, विचारशील आत्मा का तुम अपने दिल में बारम्बार शुभ ध्यान करो ॥१॥

दम्पतिरेतोरुधिरविवर्ते, किं शुभमिह मलकश्मलगर्ते?।
भृशमपि पिहितः स्रवति विरूपं, को बहु मनुतेऽवस्करकूपम् ॥भा०

भावार्थ—हे जीव! स्त्री-पुरुषों के रज और वीर्य तथा लोहू से बने हुए, मल मूत्र, लार और कफ पित्त आदि मलों से तथा पापसमूह से भरे हुए खड्डे (खाई) के तुल्य इस शरीर का कौन सा अवयव सुन्दर है? अर्थात् इसका कोई भी अवयव सुन्दर नहीं है। हे चेतन! अधिक क्या कहें, वस्त्रादिकों से ढके रहने पर भी इस शरीर से हमेशा अधिक दुर्गन्ध युक्त पदार्थ झरते ही रहते हैं। अतः मलमूत्रादि से भरे हुए कचरे के कूए के समान इस देह को कौन ज्ञानी मनुष्य उत्तम (सुन्दर) मानता है? अर्थात् कोई भी उसे उत्तम नहीं मानता ॥२॥

भजति सचन्द्रं शुचि ताम्बूलम्, कर्तुं मुखमारुतमनुकूलम्।
तिष्ठति सुरभि कियन्तं कालं, मुखमसुगन्धि जुगुप्सितलालम् ॥भा०

भावार्थ—हे जीव! इस असार संसार में मूर्ख लोग अपने

मुख की हवा को सुगन्धित बनाने के लिए कपूर और इलायची आदि सुगन्धित पदार्थों से युक्त नागरवेल के पान को खाते हैं। तथापि दुर्गन्ध और खराब लार से युक्त उनका वह मुख कृत्रिम (बनावटी) सुगन्ध से थोड़ी ही देर तक सुगन्धित रहता है। हमेशा के लिए नहीं ॥३॥

असुरभिगन्धवहोऽन्तरचारी, आवरितुं शक्यो न विकारी।
वपुरुपजिघ्रसि वारंवारं, हसति बुधस्तव शौचाऽऽचारम् ॥भा० ४॥

भावार्थ—हे अज्ञानी जीव! अनेक विकारों से युक्त, शरीर के भीतर चलने वाला, दुर्गन्ध से मिला हुआ यह श्वास का पवन सुगन्धित पदार्थों से सुगन्धयुक्त नहीं किया जा सकता। तो भी हे चेतन! तूं तरह तरह के सुगन्धित पदार्थों से शरीर को जब लीप कर उसे वारवार सूंघता है तब तेरे उस देहशुद्धि के व्यापार को देख कर ज्ञानी लोग हँसते हैं ॥४॥

द्वादश नव रंध्राणि निकामम्, गलदशुचीनि न यांति विरामम्।
यत्र वपुषि तत्कलयसि पूतम्, मन्ये तव नूतनमाकूतम् ॥५॥

भावार्थ—हे चेतन! जिस विनश्वर (नाशवान्) शरीर में अत्यन्त अपवित्र कफ पित्त वायु मल मूत्र आदि वस्तुओं को झराने वाले स्त्रियों के बारह और पुरुषों के नव द्वार क्षण भर के लिए भी विश्राम को प्राप्त नहीं होते हैं। हे जीव! ऐसे निन्दनीय शरीर को भी जो तूं अज्ञान से पवित्र मानता है। इसी कारण से मैं तेरे इस अभिप्राय को विल्कुल नया मानता हूं क्योंकि–ऐसा अभिप्राय ज्ञानियों में नहीं देखा जाता ॥५॥

अशितमुपस्करसंस्कृतमन्नम्, जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम्।
पुंसवनं धैनवमपि लीढम्, भवति विगर्हितमति जनमीढम् ॥

भावार्थ—हे चेतन! यह तो तुम भली भांति हमेशा देखते

ही हो कि घृत, गुड़, शक्कर जीरा आदि विविध दिव्य सामग्रियों से पकाये हुए जलेबी, मालपूए, लड्डू आदि स्वादिष्ट भक्ष्य पदार्थ प्राणियों के खा लेने के बाद शरीर के संयोग से विष्ठा होकर संसार में दुर्गन्ध फैलाते हैं और शरीर में ताकत बढ़ाने वाले गाय के घृत, दूध आदि पेय पदार्थ पी लेने के बाद बहुत ही खराब, लोगों के मूत्र रूप हो जाते हैं। ऐसे घृणित शरीर को भी तुम पवित्र मानते हो यह हमें बड़ा भारी आश्चर्य है ॥६॥

केवलमलमयपुद्गलनिचये, अशुचीकृतशुचिभोजनसिचये।
वपुषि विचिन्तय परमिह सारम्, शिवसाधनसामर्थ्यमुदारम् ॥

भावार्थ—हे आत्मा! जिस शरीर को प्राप्त होकर पवित्र भोजन और उत्तमोत्तम वस्त्र अपवित्र हो जाते हैं, जो केवल मल-मय पुद्गलों के समुदाय से बना हुआ है। ऐसे इस शरीर में तुम निर्दोष, उत्कृष्ट और मोक्ष प्राप्ति के कारण भूत यानि आत्मोद्धार की सार वस्तु के पहिचानने का प्रयत्न करो ॥७॥

येन विराजितमिदमतिपुण्यम्, तच्चिन्तय चेतन! नैपुण्यम्।
विशदाऽऽगममधिगम्य निपानम्, विरचय शान्तसुधारसपानम् ॥

भावार्थ—हे चेतन! जिससे अत्यन्त पवित्र यह शरीर शोभायमान है उसी कुशलता का तुम अपने दिल में विचार करो और निर्दोष सिद्धान्तरूप जलाशय (कूप) को पाकर, आलस्य छोड़ कर शान्त रूप अमृतरस का पान करो। इस में तनिक भी देर न करो ॥८॥

इस 'अशुचिभावना' का चिन्तवन करने से श्रीसनत्कुमार चक्रवर्ती आदि सत्पुरुष परम सुख को प्राप्त हुए।

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकाया षष्ठः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ सप्तमी 'आश्रवभावना' प्रारभ्यते—

छठी भावना में अशुचिता का विचार किया गया है, अशुचिता, आश्रवसम्पादित अन्य-सम्बन्ध से होती है। इसी सम्बन्ध से विचारपथ में आई हुई आश्रवभावना का विवेचन किया जाताहै।

भुजङ्गप्रयात–छन्द–

यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भिः, प्रपूर्येत सद्यः पयोभिस्तटाकः।
तथैवाऽऽश्रवैः कर्मभिः संभृतोऽङ्गी, भवेद् व्याकुलश्चञ्चलः पङ्किलश्च॥

भावार्थ—हे! आत्मा! जिस प्रकार चारों ओर से बह बहकर आते हुए छोटे वड़े नदी नालों एवं झरनों के जलों से तालाब शीघ्र ही भर जाता है। वैसे ही आश्रव रूपी कर्मों से भरा हुआ प्राणी दुःखी, चलायमान चित्तवाला और पाप रूपी कीचड़ से लिप्त हो जाता है॥१॥

शार्दूलविक्रीडित–वृत्त–

यावत्किञ्चिदिवानुभूय तरसा कर्मेह निर्जीर्यते,
तावच्चाऽऽश्रवशत्रवोऽनुसमयं, सिञ्चन्ति भूयोऽपि तत्।
हा! कष्टं कथमाश्रवप्रतिभटाः, शक्या निरोद्धुं मया?,
संसारादतिदारुणान्मम हहा! मुक्तिः कथं भाविनी? ॥२॥

भावार्थ—इस आत्मा से जब तक मैं अपने किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों के फलों को भोगकर अत्यल्प अंश में उन्हें क्षय कर पाता हूँ, तब तक आश्रव रूपी शत्रु समय समय पर फिर उसे बढ़ा देते हैं। अहा! वड़े ही दुःख की बात है कि ये आश्रव रूपी शत्रुसैनिक मुझ जैसे दुःखिया प्राणी से कैसे रोके जायँगे अर्थात् ये किसी भी प्रकार रोके नहीं रुकेंगे। वास्ते खेद! खेद!! महाखेद!!! इस महा भयङ्कर संसार से मेरी मुक्ति

कैसे होगी? अर्थात् इस दुस्तर संसार रूपी समुद्र से मैं कैसे पार होऊंगा? ॥२॥

और भी इस श्लोक से आश्रव का मूलभेद कहा जाता है—

प्रहर्षिणी—छन्द—

मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योग-संज्ञा,-
श्चत्वारः सुकृतिभिराश्रवाः प्रदिष्टाः।
कर्माणि प्रतिसमयं स्फुटैरमीभि,-
र्बध्नन्तो भ्रमवशतो भ्रमन्ति जीवाः॥३॥

भावार्थ—हे जीव! विद्वानों ने, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार आश्रवों को कर्मबन्धन के कारण बतलाये हैं। इन ही कर्मबन्धन के कारणभूत आश्रवों से अज्ञान के वश में होकर समय समय पर कर्मों को बांधते हुए प्राणी जन्म जन्मान्तर में भटकते रहते हैं ॥३॥

रथोद्धता—छन्द—

इन्द्रियाऽव्रतकषाययोगजाः, पञ्चपञ्चचतुरन्वितास्त्रयः।
पञ्चविंशतिरसत्क्रिया इति, नेत्रवेदपरिसंख्ययाप्यमी ॥४॥

भावार्थ—हे चेतन! पांच इन्द्रियें, पांच अव्रत, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस असत्क्रियाएँ इस प्रकार सब मिलकर आश्रव-कर्म के ४२ भेद हैं। इस श्लोक में कवि ने आश्रव कर्म के उत्तर भेदों की संख्या जानने के लिये बतलाई है ॥४॥

इन्द्रवज्रा—वृत्त—

इत्याश्रवाणामधिगम्य तत्त्वं, निश्चित्य सत्त्वं श्रुतिसन्निधानात्।
एषां निरोधे विगलद्विरोधे, सर्वाऽऽत्मना द्राग्यतितव्यमात्मन्!

भावार्थ—हे आत्मा ! पहले बतलाये हुए आश्रवों के स्वरूप को अच्छी तरह समझ करके फिर शास्त्रों के अभ्यास से उनके जीतने के उपाय को निश्चित करके, शत्रुभाव से रहित उन आश्रव कर्मों के निग्रह करने के लिए तुम्हें तन, मन और वचन से शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिये ॥५॥

अथ सप्तमाऽऽश्रवभावनाष्टकं धनाश्रीरागेण गीयते—

अव गाने योग्य धनाश्री राग से मधुर पदसंपन्न अष्टक से सातवी 'आश्रवभावना' कही जाती है।

परिहरणीया रे ! सुकृतिभिराश्रवा, हृदि समतामवधाय ।
प्रभवन्त्येते रे ! भृशमुच्छृङ्खला, विभुगुणविभववधाय ।परि०॥१॥

भावार्थ—रे मूर्ख चेतन ! विद्वानों को चाहिये कि वे अपने दिल में, जीवमात्र में मैत्रीभाव रखते हुए सम्पूर्ण दुःखों के कारणभूत इन हिंसा आदि आश्रवों का सर्वथा त्याग करदें। क्योंकि-इनका त्याग न करने से ये बहुत उद्धत होकर आत्मा के ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि गुणरूप ऐश्वर्य को नष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं ॥१॥

कुगुरुनियुक्ता रे ! कुमतिपरिप्लुताः, शिवपुरपथमपहाय ।
प्रयतन्तेऽमी रे ! क्रियया दुष्टया, प्रत्युत शिवविरहाय ।परि०।२।

भावार्थ—हे चेतन ! अयोग्य गुरुओं से प्रेरित होते हुए और कुवुद्धि से भरे हुए ये मिथ्यात्व गुण वाले प्राणी मुक्ति रूपी नगरी के मार्ग को छोड़कर उल्टे निन्दनीय कर्म्मों द्वारा मोक्ष के अभाव के लिए प्रयत्न करते हैं। यह वड़े ही आश्चर्य की वात है कि ये लोग जान बूझ कर खड्डे में गिरते हैं। इस श्लोक में कवि ने आश्रवों का मिथ्यात्व गुण दिखलाया है ॥२॥

अब अगले श्लोक में अविरति आश्रव के गुण का वर्णन किया जाता है—

अविरतचित्ता रे! विषयवशीकृता, विषहन्ते विततानि।
इह परलोके रे! कर्मविपाकजा-न्यविरलदुःखशतानि ॥परि०॥३॥

भावार्थ—हे चेतन! हिंसा आदि दुष्ट कार्यों में संलग्न चित्त-वाले, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से अपने वश में किये हुए मूर्ख लोग इस लोक तथा परलोक में लताओं के समान फैले हुए तथा पूर्वजन्म में एकत्रित किये हुए कर्मों के फलों से होने वाले असह्य सैकड़ों दुःखों को निरन्तर विशेषरूप से सहन करते है।

अब इस श्लोक में इन्द्रिय-जन्य आश्रव का विवेचन किया जाता है—

करिझषमधुपा रे! शलभमृगादयो, विषयविनोदरसेन।
हन्त! लभन्ते रे! विविधा वेदना, बत! परिणतिविरसेन।परि०।

भावार्थ—हे आत्मा! हमें इस बात का बड़ा भारी दुःख है कि इस असार संसार में हाथी, मत्स्य, भौंरे, पतंगिया, हरिण, सर्प, पक्षी आदि अज्ञानी जीव एक एक इन्द्रिय-विषय के वश में होकर भी जब अन्त में दुःख देने वाले विषय सुख के आनन्द से तरह तरह के दुःखों को भोगते हैं अतः खेद की बात है कि-तब पांच ही विषयों में सदैव आसक्त रहने वाले तुम्हारी तो न मालूम क्या गति होगी? ॥४॥

उदितकषाया रे! विषयवशीकृता, यान्ति महानरकेषु।
परिवर्तन्ते रे! नियतमनंतशो, जन्मजरामरणेषु ॥परि०॥५॥

भावार्थ—हे चेतन! तुम सम्पूर्ण दोषों के कारणभूत कषायों का त्याग कर दो, क्योंकि-काम, क्रोध आदि कषायों से युक्त तथा विषयों के वश में होते हुए प्राणी रौरवादि बड़े भयंकर नरकों में जाते हैं और फिर उनसे छुटकारा पाकर बहुत ही थोड़ी आयु वाली तिर्यंच आदि योनियों में अनन्त वार निश्चित रूप से

जन्मते और मरते रहते हैं ॥५॥

मनसा वाचा रे! वपुषा चञ्चला, दुर्जयदुरितभरेण ।
उपलिप्यन्ते रे! तत आश्रवजये, यततां कृतमपरेण ॥परि०॥६॥

भावार्थ—हे चेतन! मन के बुरे २ व्यापारों से, कटु २ भाषणों से और शरीर की खोटी २ चेष्टाओं से चञ्चल बुद्धिवाले प्राणी मुश्किल से उठाने योग्य पापों के बोझों से दबाये जाते हैं अर्थात् अनेकानेक अशुभ कर्म रूपी कीचड़ से लीपे जाते हैं। इसलिये पाप बन्धन के कारणभूत आश्रवों को जीतने का तुम उपाय करो। क्योंकि-बन्धन के हेतुभूत अन्य सव कर्म वृथा हैं। अतः आत्म-सुधार के लिये सद्बुद्धि से उनका शीघ्र ही त्याग करदो ॥६॥

आगे के श्लोक से भी इसी उपदेश की पुष्टि की जाती है—

शुद्धा योगा रे! यदपि यताऽऽत्मनां, स्रवन्ते शुभकर्माणि ।
काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीया,-द्धतनिर्वृतिशर्माणि ।परि०।७।

भावार्थ—अरे आत्मा! यद्यपि योगी पुरुषों के तन, मन और वचन सम्बन्धी जो कुछ भी शुभ कर्म हैं वे शुभ फलों को ही देते हैं। तो भी तूं मोक्ष सुख को नष्ट करने वाले उन सब शुभ कर्मों को भी सोने की बनी हुई पगबन्धन की सांकल ही जान ॥७॥

मोदस्वैवं रे! साश्रवपाप्मनां, रोधे धियसाधाय ।
शान्तसुधारसपानमनारतं, विनय! विधाय विधाय । परि०॥८॥

भावार्थ—हे विनयविजय! इस प्रकार आश्रव युक्त अशुभ कर्मों के नाश करने में अपनी बुद्धि को लगा कर निरन्तर शान्त रूपी अमृत रस का बारम्बार आस्वादन करके तुम अपनी आत्मा में अत्यन्त आनन्द मनाओ ॥८॥

उपरोक्त प्रकार से जो जीव आश्रव-भावना का चिन्तन

आश्रवों का त्याग करते हैं वे 'समुद्रपाल' मुनि की तरह अनर्थ की परम्परा का त्याग करके परमानन्द पद के सुखानुभव को प्राप्त होते हैं॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्यां भाषाटीकाया सप्तमः प्रकाशः समाप्तः॥

अथाऽष्टमी 'संवरभावना' प्रारभ्यते—

प्रथम प्रकाश से लेकर सप्तम प्रकाश पर्यन्त वैराग्य प्रधान उपदेश दिया गया है। अब अष्टम प्रकाश से लेकर ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त आदर पूर्वक ग्रहण करने के योग्य, उपदेशप्रद स्वरूपशाली भावनाएँ कही जायँगी। सप्तम प्रकाश में आश्रवों के निरोध का उपाय बतलाया गया है और वह निरोध संवर से हो सकता है इसलिए अब क्रम प्राप्त संवरभावना का सम्यक्तया विवेचन किया जाता है।

स्वागता—छन्द—

येन येन य इहाऽऽश्रवरोधः, सम्भवेन्नियतमौपयिकेन।
आद्रियस्व विनयोद्यतचेता,-स्तत्तदान्तरदृशा परिभाव्य॥१॥

भावार्थ—हे विनय वैराग्य में प्रवृत्त चित्त वाले भव्यात्मा! इस जन्म में जिन जिन उपायों द्वारा मिथ्यात्व आदि बन्धन के कारणभूत आश्रवों का निश्चित रूप से निरोध हो सके उन्ही उपायों को भली प्रकार ज्ञानदृष्टि से विचार करके आदर पूर्वक ग्रहण करो॥१॥

संयमेन विषयाऽविरतत्वे, दर्शनेन वितथाऽभिनिवेशम्।
ध्यानमार्तमथ रौद्रमजस्रं, चेतसः स्थिरतया च निरुन्ध्याः॥२॥

भावार्थ—हे चेतन! शब्दादि पांच प्रकार के विषयों की तृष्णा

और अविरति नाश के आश्रव को तुम संयम द्वारा रोको और मिथ्या आग्रह को दर्शनगुण से रोको तथा आर्तध्यान और रौद्र-ध्यान का भी तुम चित्त की स्थिरता से ही निरोध करो। इसी में तुम्हारा भला है ॥२॥

शालिनी—वृत्त—

क्रोधं क्षान्त्या मार्दवेनाभिमानं, हन्या मायामार्जवेनोज्ज्वलेन ।
लोभं वारांराशिरौद्रं निरुन्ध्याः, सन्तोषेण प्रांशुना सेतुनेव ॥३॥

भावार्थ—हे प्राणी ! तुम क्षमा से क्रोध को, नम्रता से अहं-कार को और कपट रहित सरल स्वभाव से माया को दूर (अलग) करो तथा ऊंची संतोष रूपी पाल से वेग पूर्वक बहते हुए जल के प्रवाह के समान भयङ्कर तृष्णा–लोभ के बढ़ते हुए प्रवाह को रोको ॥

स्वागता—छन्द—

गुप्तिभिस्तिसृभिरेवमजय्यान्, त्रीन् विर्जित्य तरसाऽधमयोगान् ।
साधुसंवरपथे प्रयतेथाः, लप्स्यसे हितमनाहतसिद्धम् ॥४॥

भावार्थ—हे चेतन ! कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों के निरोध से, अजेय–न जीतने योग्य, तन, मन और वचन सम्ब-न्धी शुभाशुभ आश्रव कर्मों को बलपूर्वक जीत कर शुद्ध संवर मार्ग को ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करो। क्योंकि–ऐसा करने से तुम्हें अखण्ड और अविनाशी मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी ॥४॥

मन्दाक्रान्ता—वृत्त—

एवं रुद्धेष्वमलहृदयैराश्रवेष्वाप्तवाक्य,-
श्रद्धाचञ्चत्सितपटपटुः सुप्रतिष्ठानशाली ।
शुद्धैर्योगैर्जवनपवनैः प्रेरितो जीवपोतः,
स्रोतस्तीर्त्वा भवजलनिधेर्याति निर्वाणपुर्य्याम् ॥५॥

भावार्थ—हे प्राणी! इस प्रकार प्रथम बतलाये हुए उपायों द्वारा शुद्ध मन वाले पुरुषों से कर्मबन्धन के हेतुभूत आश्रवों के नष्ट किये जाने पर, सर्वज्ञ पुरुषों के वचन में विश्वास रूपी चञ्चल सफेद वस्त्र से शोभायमान, दृढ़चित्त रूपी सुन्दर स्तम्भ से युक्त, शुद्ध कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूपी अनुकूल वेगवाली शान्तवायु से चलाया हुआ यह जीव रूपी जहाज संसार रूपी समुद्र के दुस्तर प्रवाह को पार करके सदैव परमानन्दसुखों की खानस्वरूप मोक्ष-नगरी को जाता है॥५॥

अथाऽष्टमभावनाष्टकं नटरागेण गीयते—

अब नटराग से गेयपद युक्त अष्टक में क्रम प्राप्त 'संवरभावना' का विवेचन किया जाता है—

शृणु शिवसुखसाधनसदुपायम्, शृणु शिवसुखसाधनसदुपायम्।
ज्ञानाऽऽदिकपावनरत्नत्रय,-परमाऽऽराधनमनपायम्॥शृ०॥१॥

भावार्थ—हे चेतन! मोक्ष सुख की प्राप्ति के सुलभ उपाय को तुम सुनो। जो उपाय सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी, आत्मा को पवित्र करने वाला तीनों रत्नों की आराधना करने वाला और अविनाशी है ऐसे उस मोक्ष सुख की प्राप्ति के प्रधान साधनभूत उपाय को तुम ध्यान लगा कर सुनो॥१॥

विषयविकारमपाकुरु दूरं, क्रोधं मानं सहमायम्।
लोभं रिपुं च विजित्य सहेलम्, भज संयमगुणमकषायम्।शृ०।२

भावार्थ—हे आत्मा! सांसारिक विषयवासनाओं की बलवती इच्छा को तुम दूर से ही छोड़ दो अर्थात् तुम उसे अपने पास में भी न आने दो। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकार के कषायों को तथा कामादि शत्रुओं को तुम सहज ही में जीत कर कषाय रहित शुद्ध संयम गुण की उपासना करो अर्थात्

सदैव संयम गुण के पालन करने में ही अनुरक्त रहो ॥२॥

उपशमरसमनुशीलय मनसा, रोषदहनजलदप्रायम् ।
कलय विरागं धृतपरभागं, हृदि विनयं नायं नायम् ॥शृ०॥३॥

भावार्थ—हे भव्यजीव ! क्रोध रूपी धधकती हुई अग्नि को शान्त करने (बुझाने) के लिए मेघ के समान शान्तरस का तुम अपने मन से भली प्रकार विचार करो और अत्यन्त विनयी हो कर उत्कृष्ट वैराग्य को अपने हृदय में धारण करो ॥३॥

आर्तं रौद्रं ध्यानं माऽर्जय, दह विकल्परचनाऽऽनायम् ।
यदियमरुद्धा मानसवीथी, तत्त्वविदः पन्था नाऽयम् ॥शृ०॥४॥

भावार्थ—हे प्राणी ! तुम आर्तध्यान और रौद्रध्यान का संचय मत करो और शुभ तथा अशुभ कर्मों के समुदाय रूपी जाल को जला कर भस्म कर दो । जो यह खुला हुआ मन रूपी राजमार्ग है वह परमार्थ को जानने वाले पुरुषों का मार्ग नहीं है अर्थात् तत्त्ववेत्ता लोग मदोन्मत्त मन के मुताबिक नहीं चलते ॥४॥

संयमयोगैरवहितमानस-शुद्ध्या चरितार्थय कायम् ।
नानामतरुचिगहने भुवने, निश्चिनु शुद्धपथं नायम् ॥शृणु०॥५॥

भावार्थ—हे चेतन ! षट् काय जीवों की रक्षा के व्यापार से तथा मन की शुद्धि से तुम अपने शरीर को कृतार्थ (सफल) करो और अनेक मतमतान्तरों की श्रद्धा से जटिल (भरा हुआ) इस संसार में मोक्ष मार्ग को ही निश्चित रूप से निर्दोष मार्ग समझ कर उसका अवलम्बन करो ॥५॥

ब्रह्मव्रतमङ्गीकुरु विमलम्, बिभ्राणं गुणसमवायम् ।
उदितं गुरुवदनादुपदेशं, संगृहाण शुचिमिव रायम् ॥शृणु०॥६॥

भावार्थ—हे प्राणी ! ज्ञान, दर्शन आदि अनेक शुभ गुणों से

युक्त निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रत को तुम स्वीकार करो और सुगुरु के मुख से निकले हुए जो प्राणियों के मनो वांछित पूर्ण करने में साक्षात्कल्पवृक्ष व चिन्तामणि रत्नके समान है ऐसे उपदेश को पवित्र धन की तरह ग्रहण करो ॥६॥

संयमवाङ्मयकुसुमरसै,-रतिसुरभय निजमध्यवसायम् ।
चेतनमुपलक्षय कृतलक्षण,-ज्ञानचरणगुणपर्यायम् ॥शृणु०॥७॥

भावार्थ--हे आत्मा! सम्पूर्ण बन्धनों के कारणभूत आश्रवों का निरोध करने वाले, सर्वज्ञ पुरुषों के वचन रूपी पुष्पों के रस से अपनी मन की वृत्ति को अत्यन्त सुगन्धित करो और प्रसिद्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुण पर्यायों से युक्त अपने आत्मा के विलक्षण स्वरूप को तुम पहिचानो ॥७॥

वदनमलंकुरु पावनरसनं, जिनचरितं गायं गायं ।
सविनय! शान्तसुधारसमेनं, चिरं नन्द पायं पायम् ॥शृणु०॥

भावार्थ--हे भव्यजीव! पापों को हरने वाले जिनेन्द्र भगवानों के चरित्रों को वारम्बार गाने से, पवित्र जिह्वा वाले अपने मुख को शोभायमान करो और विनयसहित इस शान्त रूपी अमृतरस का वारम्बार यथेच्छ पान करते हुए तुम बहुत समय तक आनन्द करो ॥८॥

उपरोक्त प्रकार से विचार करना संवर भावना कहलाती है। इस भावना का चिन्तन करने से सुकोसल मुनि और गजसुकुमाल मुनि तथा अनंत मुनिवर मोक्षगामी हुए ॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्यां
भाषाटीकायामष्टमः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ नवमी 'निर्जराभावना' प्रारभ्यते--

अष्टम प्रकाश के अन्त में जीव–स्वरूप को प्रत्यक्ष करने का उपदेश दिया गया है। जीव का स्वरूप कर्मों के क्षय होने से प्रत्यक्ष होता है और वह कर्मों का क्षय निर्जरा से ही होता है अतः इस परम्परा सम्बन्ध से प्राप्त नवमी निर्जरा-भावना का विवेचन किया जाता है।

इन्द्रवज्रा—वृत्त—

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता, तद् द्वादशानां तपसां विभेदात्।
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः, स्वातंत्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात् ॥१॥

भावार्थ--हे चेतन ! जो निर्जरा शास्त्रों में बारह प्रकार की कही गई है वह छः प्रकार की आभ्यन्तर और छः प्रकार की बाह्य तपस्याओं के भेद से बारह प्रकार की बतलाई गई है। क्यों कि-कारण के भेद से ही कार्य का भेद होता है। जिस तरह मिट्टी का बना हुआ घड़ा का उपादान(मूल) कारण मिट्टी होने से वह घट मिट्टी का कहा जाता है। उसी तरह सुवर्णादि धातुओंके भेद से उन २ धातुओं का घट ऐसा व्यवहार किया जाता है। वास्तव में तो कर्म रूपी उपाधि के क्षय हो जाने पर वह निर्जरा एक ही प्रकार की है ॥१॥

अनुष्टुप्—छन्द—

काष्ठोपलाऽऽदिरूपाणां, निदानानां विभेदतः।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि, पृथग्रूपो विवक्ष्यते ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही स्वरूप वाली अग्नि, काठ,पाषाण, गोमय तथा तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही या देखी जाती है ॥२॥

निर्जराऽपि द्वादशधा, तपोभेदैस्तथोदिता।
कर्मनिर्जरणात्मा तु, सैकरूपैव वस्तुतः ॥३॥

भावार्थ—वैसे ही तपस्याओं के भेद से निर्जरा भी वारह प्रकार की कही गई है परन्तु कर्म्मों को नष्ट करने वाली वह निर्जरा वास्तव में एक ही प्रकार की है ॥३॥

उपेन्द्रवज्रा—वृत्त—

निकाचितानामपि कर्म्मणां यद्, गरीयसां भूधरदुर्द्धराणाम्।
विभेदने वज्रमिवाऽतितीव्रं, नमोऽस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय ॥४॥

भावार्थ—जिस प्रकार बहुत बडे बड़े, अत्यन्त कठोर पहाड़ों के भेदन करने में तीक्ष्ण वज्र समर्थ होता है, ठीक-उसी प्रकार पर्वत के समान कठोर निधत्त निकाचित नाम वाले कर्मों को नष्ट करने में तीक्ष्ण वज्र की तरह समर्थ, अचिन्त्य महिमा वाले उस तप को वारम्वार नमस्कार है ॥४॥

उपजाति—वृत्त—

किमुच्यते सत्तपसः प्रभावः?, कठोरकर्माऽर्जितकिल्बिषोऽपि।
दृढप्रहारीव निहत्य पापम्, यतोऽपवर्गं लभतेऽचिरेण ॥५॥

भावार्थ—जिस तपस्या के प्रभाव से, दुष्ट कर्म्मों से पापों को संचित करने वाले पापीजन भी दृढ़प्रहारी की तरह शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करके शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ऐसी उस अनशन, ध्यान आदि तपस्या की महिमा का हम कहां तक वर्णन करें ॥५॥

यथा सुवर्णस्य शुचि स्वरूपं, दीप्तः कृशानुः प्रकटीकरोति।
तथाऽऽत्मनः कर्मरजो निहत्य, ज्योतिस्तपस्तद्विशदीकरोति ॥६॥

भावार्थ—जिस प्रकार जलती हुई अग्नि सुवर्ण के मैल को दूर करके उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकाशित करती है। उसी

प्रकार उपरोक्त गुणों से युक्त वह तपस्या भी शुभ और अशुभ कर्म रूपी मल को दूर (नाश) कर के आत्मा के सत्य (असली) स्वरूप को प्रकट करती है। इस में तनिक भी सन्देह नहीं ॥६॥

स्रग्धरा–वृत्त–

बाह्येनाऽऽभ्यन्तरेण प्रथितबहुभिदा जीयते येन शत्रु–
श्रेणी बाह्याऽन्तरङ्गा भरतनृपतिवद्भावलब्धद्रढिम्ना।
यस्मात्प्रादुर्भवेयुः प्रकटितविभवा लब्धयः सिद्धयश्च,
वन्दे स्वर्गाऽपवर्गाऽर्पणपटु सततं तत्तपो विश्ववंद्यम् ॥७॥

भावार्थ—भरत चक्रवर्ती की तरह मन की शुद्ध भावना से स्थिर चित्त वाले, सम्पूर्ण अशुभ कर्मों को नष्ट करने में प्रवीण, तन, मन और वचन सम्बन्धी जिस अचिन्त्य महिमा वाले तप से अन्दर के राग द्वेष, काम क्रोध, लोभ मोह आदि तथा बाहिर के आज्ञाभङ्ग आदि अनादर करने वाले शत्रुओं के समूह जीते जाते हैं और जिस तप से प्रत्यक्ष ऐश्वर्यवाली आमर्षौषधि जलौषधि आदि २८ लब्धियें (विद्याएँ) तथा अणिमा महिमादि आठ प्रकार की सिद्धियें प्राप्त होती हैं ऐसे स्वर्ग और मोक्ष को देने वाले, सभी से वन्दनीय, त्रिविध (कायिक, वाचिक और मानसिक) तप को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूं ॥७॥

अथ निर्जराभावनाष्टकं सारङ्गरागेण–गीयते–

अब सारंग राग से गाने योग्य अष्ट–पदी में अद्भुत महिमा शाली निर्जरा का विचार किया जाता है।

"विनय! विभाय तपोमहिमानम्" (ध्रुवपदं)
बहुभवसंचितदुष्कृतममुना, लभते लघु लघिमानम् ॥वि०॥१॥

भावार्थ—हे चेतन! विनय! बाह्य तथा आभ्यन्तर तपस्या-

ओंके प्रभाव का तूं अपने दिल में विचार कर क्योंकि-इन ही तपस्याओं से जन्म जन्मान्तरों से एकत्रित किये हुए पाप शीघ्र ही हल्के (थोड़े) हो कर बिल्कुल नष्ट हो जाते है ॥१॥

यांति घनाऽपि घनाघनपटली, खरपवनेन विरामम्।
भंजति तथा तपसा दुरिताली, क्षणभङ्गुरपरिणामम् ॥वि०॥२॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा ! जिस प्रकार सघन, जल बरसानेवाले बादलों का समूह, तेज हवा के प्रबल झोकों से छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार पापों का समूह भी तपस्या के प्रबल प्रभाव से क्षण भर में नष्ट हो जाता है ॥२॥

वाञ्छितमाकर्षति दूरादपि, रिपुमपि व्रजति वयस्यम्।
तप इदमाश्रय निर्मलभावा-दागमपरमरहस्यम् ॥वि०॥३॥

भावार्थ—हे आत्मा ! जिस तप के प्रभाव से मनुष्य अपने दुर्लभ मनोरथों को भी प्राप्त कर लेता है। जिसके अतुल प्रभाव से शत्रु भी मित्र बन जाते है। ऐसे शास्त्रों के सारभूत, अनशन, ध्यान आदि तपों का तूं निर्मल भक्ति से सेवन कर ॥३॥

अनशनमूनोदरतां वृत्ति-ह्रासं रसपरिहारम्।
भज सांलीन्यं कायक्लेशं, तप इति बाह्यमुदारम् ॥वि०॥४॥

भावार्थ—हे जीव ! समय और अपनी शक्ति के अनुसार एक उपवास से लेकर छः मास पर्यन्त उपवास करना १, नित्य थोड़ा आहार करना २, वृत्ति-आजीविकादि के व्यापारों को कम करना ३, भोजन के तिक्त कटुकादि छः रसों का त्याग करना ४, अपने हाथ पैर आदि अङ्गों को गुप्त रखना तथा इन्द्रियों को अपने वश में रखना ५, और केशलुञ्चन, भूख तृषादि शरीर सम्बन्धी दुःखों को सहना ६, इत्यादि प्रकार के इन निर्दोष बाह्य तपों का तूं भली प्रकार सेवन(आचरण) कर ॥४॥

प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्यं, स्वाध्यायं विनयं च।
कायोत्सर्गं शुभध्यान-माभ्यन्तरमिदमञ्चं ॥वि०॥५॥

भावार्थ—हे प्राणी! पापालोचनादि दश प्रकार के प्रायश्चित्त १, आचार्य आदि गुरुजनों की सेवा २, वांचना, पृच्छनादि पठन-पाठन ३, देवगुरु आदि का विनय ४, कायोत्सर्ग ५, और शुभ ध्यान करना ६, इन छः प्रकार के तपों को तुम अपने कर्मों को क्षय करने के लिये अवश्यमेव स्वीकार करो। इसी में तुम्हारा भला है ॥५॥

अगले श्लोक से पूर्वोक्त तपस्याओं का फल कहा जाता है।

शमयति तापं गमयति पापं, रमयति मानसहंसम्।
हरति विमोहं दूरारोहं, तप इति विगताऽऽशंसम् ॥वि०॥६॥

भावार्थ—हे चेतन! पहले बतलाया हुआ निष्काम फलेच्छा रहित तप, आधिभौतिक-अन्य प्राणियों स होने वाले, आधिदैविक-अपने कर्मों के द्वारा होने वाले, और आध्यात्मिक-अपनी आत्मा से समुत्पन्न, इन तीन प्रकार के दुःखों को दूर करता है। जन्म जन्मान्तरों में एकत्रित किये हुए पाप समूह को नष्ट करता है। मन रूपी मान-सरोवर में आत्मा को रमण कराता है और मुश्किल से दबाने योग्य मोह-अज्ञान मिथ्यात्व कषायादि को दूर करता है ॥६॥

संयमकमलाकार्मणमुज्वल-शिवसुखसत्यङ्कारम्।
चिंतितचिन्तामणिमाराधय, तप इह वारंवारम् ॥वि०॥७॥

भावार्थ—हे आत्मा! इस असार संसार में चारित्र रूपी लक्ष्मी को आधीन करने के लिए सिद्ध मन्त्र रूप, निर्दोष मोक्ष सुख को दिलाने में सत्य प्रतिज्ञा वाला-जामिनदार, मनोरथों को सफल करने में चिन्तामणि रत्न के समान, ऐसे दिव्य तप की तुम वार वार आराधना करो ॥७॥

कर्मगदौषधमिदमिदमस्य च, जिनपतिमतमनुपानम्।
विनय! समाचर सौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम्॥वि०॥८॥

भावार्थ—हे भव्यजीव! विनय! यह तप, शुभ और अशुभ कर्मरूपी महा भयंकर रोगों को नष्ट करने में संजीवनी औषधि के समान है और इसका पथ्यादि सेवन (अनुपान) जैनशास्त्रों का ज्ञान है। अतः हे चेतन! तुम इस परम सुख की खान, शान्त रूपी अमृत रस का यथेच्छ पान करो॥८॥

उपरोक्त प्रकार से विचार करना निर्जरा भावना कहलाती है। इस भावना का भली प्रकार चिंतन करने से महारम्भी अर्जुनमाली मुक्ति को प्राप्त हुए।

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकाया नवमः प्रकाशः समाप्तः॥

अथ दशमी धर्मस्वरूप-भावना प्रारभ्यते—

नवम प्रकाश में कर्मरूपी रोगों की महौषधि का अनुपान जिनागम का ज्ञान कहा गया है। परन्तु वह ज्ञान, धर्म के बिना नहीं होता। अतः इस सम्बन्ध से, अब क्रम प्राप्त दशवीं धर्मस्वरूप भावना का विवेचन किया जाता है।

उपजाति—वृत्त—

दानं च शीलञ्च तपश्च भावो, धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन।
निरूपितो यो जगतां हिताय, स मानसे मे रमतामजस्रम्॥१॥

भावार्थ—संसार की कल्याण कामना के लिए विश्ववन्धु तीर्थंकरों से, दान, शील, तप और भाव रूप जो चार प्रकार का धर्म बतलाया गया है। वही परमपवित्र धर्म रूपी हंस मेरे मनरूपी मानसरोवर में सदा रमण (क्रीड़ा) करे॥१॥

इन्द्रवज्रा-वृत्त-

सत्यक्षमामार्दवशौचसङ्ग-त्यागाऽऽर्जवब्रह्मविमुक्तियुक्तः ।
यः संयमः किञ्च तपोऽवगूढ-श्चारित्रधर्मो दशधाऽयमुक्तः ॥

भावार्थ—सत्य १, क्षमा, (शान्ति) २, मार्दव-मृदुस्वभाव, ३, शौच-मन की शुद्धि ४, संगत्याग-धनादि विषयों की इच्छा का निरोध, ५, आर्जव-निष्कपटता ६, ब्रह्मचर्य ७, विमुक्ति-संतोष ८, इन धर्म्मों से युक्त इन्द्रियों का निग्रह ९ और अनेक प्रकार की तपस्याओं से युक्त १०, यह दश प्रकार का चारित्रधर्म तीर्थङ्करों से कहा गया है ॥२॥

अब अगले दो श्लोकों से धर्म की महिमा का वर्णन किया जाता है—

यस्य प्रभावादिह पुष्पवन्तौ, विश्वोपकाराय सदोदयेते ।
ग्रीष्मोष्मभीष्मामुदितस्तडित्वान्, काले समाश्वासयति क्षितिं च॥

भावार्थ—इस संसार में, जिस परम पवित्र धर्म के प्रभाव से, जगत के उपकार के लिए, सूर्य और चन्द्रमा हमेशा उदय होकर प्रकाश करते हैं और जिस के प्रताप से वर्षा-काल में आकाश में उमड़ा हुआ बादल गर्मी के ताप से अत्यन्त तपी हुई पृथ्वी को जल बरसा कर शीतल कर देता है ॥३॥

उल्लोलकल्लोलकलाविलासै-र्नाऽऽप्लावयत्यम्बुनिधिः क्षितिं यत् ।
न घ्नन्ति यद् व्याघ्रमरुद्दवाद्याः, धर्मस्य सर्वोऽप्यनुभाव एषः ॥४॥

भावार्थ—अपनी अधिक चञ्चल लहरों की लीला से समुद्र पृथ्वी को जो नहीं डुबाता है और सिंह वायु तथा वन की अग्नि आदि भी जो अपने से दुर्बल प्राणियों को नहीं मारते हैं। यह सब धर्म का ही प्रभाव है ॥४॥

शार्दूलविक्रीडित–छन्द–

यस्मिन्नेव पिताऽहितार्थं यतते भ्राता च माता सुतः,
सैन्यं दैन्यमुपैति चापचपलं यत्राऽफलं दोर्बलम् ।
तस्मिन् कष्टदशाविपाकसमये, धर्मस्तु संवर्मितः,
सज्जः सज्जन एष सर्वजगतस्त्राणाय बद्धोद्यमः ॥५॥

भावार्थ—हे चेतन ! जिस दुःखदायी समय में माता पिता, भाई और पुत्र आदि भी दुःख देने के लिए ही प्रयत्न करते हैं और सेना भी दीन भाव को प्राप्त हो जाती है तथा जहाँ धनुष की तरह चञ्चल भुजाओं का सामर्थ्य भी निष्फल हो जाता है। ऐसी उस दुःख दायी दशा के परिणाम (फल) के समय में, धैर्यादि कवच से युक्त, विश्वप्रेमी, क्षमा आदि अस्त्र-शस्त्रों से सजा हुआ (केवल) अकेला धर्म ही संसार की रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है ॥५॥

त्रैलोक्यं सचराचरं विजयते यस्य प्रसादादिदम्।
योऽत्राऽमुत्र हितावहस्तनुभृतां सर्वार्थसिद्धिप्रदः।
येनाऽनर्थकदर्थना निजमहःसामर्थ्यतो व्यर्थिता,
तस्मै कारुणिकाय धर्मविभवे भक्तिप्रणामोऽस्तु मे ॥६॥

मन्दाक्रान्ता-छन्द-

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नंदना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम् ।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,
किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥७॥

भावार्थ—हे प्राणियो! इस संसार में जिस धर्म के सामर्थ्य से मनुष्यों को ऐश्वर्य से युक्त राज्य मिलता है, सुन्दर और सुशील स्त्री प्राप्त होती है, तथा पुत्र और पौत्रों का सुख मिलता है। शरीर की कान्ति सुन्दर हो जाती है, शृङ्गार आदि नव रसों से युक्त काव्य करने की चतुरता-शक्ति प्राप्त होती है और आवाज मधुर हो जाती है। शरीर रोग रहित होकर बलवान होता है, शौर्य, गाम्भीर्य और औदार्य आदि गुणों की वृद्धि होती है और सुशीलता तथा सात्विक बुद्धि की प्राप्ति होती है ऐसे परम पवित्र, धर्मरूपी कल्पवृक्ष के अपार उदार गुणों का हम कहाँ तक वर्णन करें अर्थात् धर्म के गुणों का जितना वर्णन किया जाय उतना ही थोड़ा है ॥७॥

अथ दशमभावनाष्टकं वसन्तरागेण गीयते—

अब गाने योग्य वसन्तराग में अष्टपदी लिखी जाती है-

पालय पालय रे! पालय मां जिनधर्म!,
मङ्गलकमलाकेलिनिकेतन! करुणाकेतन! धीर!।
शिवसुखसाधन!, भवभयबाधन!, जगदाधार! गंभीर!,
॥पालय०॥१॥

भावार्थ—हे जिनधर्म! हे महोत्सव रूपी लक्ष्मी के क्रीडा-स्थल! हे करुणामूर्त्ते! हे पण्डितराज! हे मोक्ष सुख केमू ल

कारण! हे संसार सम्बन्धी क्लेशों को दूर करने वाले! त्रिलोक के आधार भूत! हे महिमा के अगाध समुद्र! मेरी शीघ्र रक्षा करो मेरी शीघ्र रक्षा करो ॥१॥

सिञ्चति पयसा जलधरपटली, भूतलममृतरसेन।
सूर्यचन्द्रमसावुदयेते, तव महिमाऽतिशयेन ॥पालय० ॥२॥

भावार्थ—हे जिनधर्म! तुम्हारी ही अलौकिक महिमा के प्रभाव से, सूर्य और चन्द्रमा उदय हो कर सदैव संसार को प्रकाशमान करते हैं और बादलों का समूह भी अमृत के समान मधुर जल बरसा कर समस्त पृथ्वी को तर (तृप्त) कर देता है ॥

निरालम्बमियमसदाधारा, तिष्ठति वसुधा येन।
तं विश्वस्थितिमूलस्तम्भम्, तं सेवे विनयेन ॥पालय०॥३॥

भावार्थ—जिस धर्म के प्रभाव से आधार रहित यह पृथ्वी विना किसी आश्रय के स्थित है उस समस्त संसार की स्थिति के मुख्य स्तम्भ रूप धर्म के प्रभाव को विनय सहित मैं स्वीकार करता हूँ अर्थात् उस धर्म को विनय पूर्वक सेवन करता हूँ ॥३॥

दानशीलशुभभावतपोमुख–चरितार्थीकृतलोकः।
शरणस्मरणकृतामिह भविनाम्, दूरीकृतभयशोकः ॥पालय०॥४॥

भावार्थ—जो दान, शील, शुभ भाव और तपस्या आदि अनेक रूप से प्राणियों को कृतार्थ करने वाला है तथा इस जन्म मे अथवा संसार में शरण आये हुए और स्मरण करने वाले भव्य जीवों के भय शोक को दूर करनेवाला है ऐसा वह पवित्र जैनधर्म हमारी रक्षा करे ॥४॥

क्षमासत्यसंतोषदयाऽऽदिक–सुभगसकलपरिवारः।
देवाऽसुरनरपूजितशासन–कृतबहुभवपरिहारः ॥पालय०॥५॥

भावार्थ—क्षमा, सत्य, संतोष और दया आदि गुणरूप

सुन्दर परिवार वाला, देवता राक्षस और मनुष्यों से आदर पूर्वक ग्रहण किया हुआ तथा अनन्त जन्मों का नाश करने वाला अर्थात् मोक्ष को देने वाला, जिनेन्द्र भगवानों से वतलाया हुआ यह पवित्र जिनधर्म हमारी रक्षा करे ॥५॥

बन्धुरबन्धुजनस्य दिवानिश-मसहायस्य सहायः ।
भ्राम्यति भीमे भवगहनेऽङ्गी, त्वां बान्धवमपहाय ॥पालय०॥

भावार्थ—हे जिनधर्म! इस संसार में तूं ही बन्धु रहित प्राणियों का बन्धु है और तूं ही अनाथ प्राणियों की दिन रात (हमेशा) सहायता करने वाला है। तो भी यह प्राणी तुझ जसे हितकारी बन्धु का साथ छोड़कर इस संसार रूपी भयानक जंगल में भटकता रहता है। यह बड़े ही खेद की बात है ॥६॥

द्रंगति गहनं जलति कृशानुः, स्थलति जलधिरचिरेण ।
तव कृपयाऽखिलकामितसिद्धि-र्बहुना किन्नु परेण ॥पालय०॥

भावार्थ—हे जिनधर्म! तुम्हारी ही कृपा से प्राणियों के लिए सिंह आदि हिंसक जन्तुओं से भरा हुआ भयंकर जंगल भी नगर के समान सुखदायी हो जाता है और अग्नि भी जल के समान शीतल हो जाती है तथा गर्जता हुआ समुद्र भी स्थल (पृथ्वी) बन जाता है एवं जीवोंके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं तो फिर मुझे बहुत से दूसरे धन, पुत्र, मित्र, और कलत्र आदि परिवारों से प्रयोजन ही क्या है? ॥७॥

इह यच्छसि सुखमुदितदशाङ्गं, प्रेत्येन्द्रादिपदानि ।
क्रमतो ज्ञानाऽऽदीनि च वितरसि, निःश्रेयससुखदानि ॥पालय०

भावार्थ—हे जैनधर्म! तुम ही इस वर्तमान भव में प्राणियों को दिनोदिन बढ़ते हुए धन, आरोग्य आदि दश प्रकार का सुख देते हो और अन्य भव में इन्द्रादि देवताओं के पद भी

देते हो, तथा फिर क्रम से तुम मोक्ष सुख के साधनभूत केवलज्ञान, सर्व दर्शित्व आदि विज्ञान को भी देते हो ॥८॥

सर्वतंत्रनवनीत! सनातन!, सिद्धिसदनसोपान!।

जय जय विनयवतां प्रतिलम्भित–शान्तसुधारसपान!॥पालय०

भावार्थ—हे सम्पूर्ण शास्त्रों के मक्खनरूप (सारभूत!) हे जन्म और मरण से रहित! (अविनाशी) हे मुक्तिरूपी मन्दिर के सोपान! (सीढ़ी) हे नम्र पुरुषों को शान्तिरूपी अमृत रस को पिलाने में रसिक! जिनधर्म तुम्हारी सदा जय जय हो॥८॥

हे भव्यो! उपरोक्त प्रकार से धर्म के स्वरूप का चिन्तन करना धर्मभावना कहलाती है। इस भावना का चिन्तन करने से श्रीऋषभदेव स्वामी के (९८) पुत्र कर्मों को खपाकर अर्थात् कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्यां

भाषाटीकायां दशमः प्रकाशः समाप्तः॥

अथैकादशी लोक–भावना प्रारभ्यते—

दशम प्रकाश के अन्त में धर्म को मोक्षमन्दिर की सीढ़ी बतलाया है परन्तु धर्म की प्राप्ति लोक में होती है इसलिये इस सम्बन्ध से क्रमप्राप्त अब ग्यारहवीं लोकभावना का विवेचन किया जाता है। जिसका यह पहला श्लोक है—

शालिनी–छन्द–

सप्ताऽधोऽधो विस्तृता याः पृथिव्यः,–
छत्राऽऽकाराः सन्ति रत्नप्रभाद्याः।
ताभिः पूर्णो योऽस्त्यधोलोक एतौ,
पादौ यस्य व्यायतौ सप्तरज्जू॥१॥

भावार्थ—क्रम पूर्वक एक दूसरे के नीचे नीचे फली हुई गोल आकार वाली रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका, पङ्क, धूम, तम और तमस्तम नाम की जो सात नरकपृथ्वियें हैं इन्हीं सात पृथ्वियों से यह पाताल लोक व्याप्त है और जिसके सात रज्जु परिमाण की पहोलाई वाले ये दोनों चरण हैं ॥१॥

तिर्यग्लोको विस्तृतो रज्जुमेकां,
पूर्णो द्वीपैरर्णवा-ऽन्तैरसंख्यैः ।
यस्य ज्योतिश्चक्रकाञ्चीकलापं,
मध्ये कार्श्ये श्रीविचित्रं कटित्रम् ॥२॥

भावार्थ—एक रज्जु प्रमाण विस्तार युक्त असंख्य द्वीपसमुद्रों से व्याप्त यह तिर्यग् लोक है। जिसके मध्य (कटि) प्रदेश में ज्योतिश्चक्र-सूर्य चन्द्रादिकों के मण्डल रूप कृश और अद्भुत शोभावाले कमर के आभूषण (कन्दोरे) के समान अत्यन्त शोभायमान है ॥२॥

लोकोऽथोर्ध्वे ब्रह्मलोके द्युलोके, यस्य व्याप्तौ कूर्परौ पञ्चरज्जू ।
लोकस्यान्तो विस्तृतो रज्जुमेकां, सिद्धज्योतिश्चित्रको यस्यमौलिः॥

भावार्थ—जिस तिर्यग् लोक के अगाड़ी-पुरुषाकार लोक के ऊपरी हिस्से में पञ्चम ब्रह्मदेवलोक पाँच रज्जू प्रमाण विस्तार युक्त वह दोनों कूणी सदृश शोभनीय है और एक रज्जु प्रमाण विस्तार वाला लोकान्त प्रदेश है। जिस के सिद्धशिला मस्तक रूप अत्यन्त देदीप्यमान है ॥३॥

यो वैशाखस्थानकस्थायिपादः, श्रोणीदेशे न्यस्तहस्तद्वयश्च ।
कालेऽनादौ शश्वदूर्ध्वंगमत्वाद्, बिभ्राणोऽपि श्रान्तमुद्रामखिन्नः॥

भावार्थ—दही मथने वाले मनुष्य के पैरो की स्थिति के समान दोनों पैर वाला और कटि प्रदेश (कमर) में दोनों हाथ रखे हुए

ऐसा जो पुरुषलोक अनादि काल से निरन्तर आधार रहित ऊर्ध्व प्रदेश में स्थित होने पर भी तथा थके हुए मनुष्य के स्वरूप को धारण किया हुआ भी दुःखी क्लेश युक्त नहीं है ॥४॥

> 'सोऽयं' ज्ञेयः पूरुषो लोकनामा,
> षड्द्रव्याऽऽत्माऽकृत्रिमोऽनाद्यनन्तः ।
> धर्माऽधर्माऽऽकाशकालात्मसंज्ञै-,
> र्द्रव्यैः पूर्णः सर्वतः पुद्गलैश्च ॥५॥

भावार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, कालास्तिकाय और जीवास्तिकाय नाम के पांच द्रव्यों और पुद्गलों से खचाखच भरा हुआ अतः वह पूर्वोक्त धर्म अधर्म आदि छः प्रकार के द्रव्यों से परिपूर्ण स्वरूप वाला, स्वाभाविक, आदि और अन्त रहित यह पुरुषाकार चउदह राजलोक विद्वान् लोगों से जानने योग्य है ॥५॥

> रङ्गस्थानं पुद्गलानां नटानां, नानारूपैर्नृत्यतामात्मनाञ्च ।
> कालोद्योगस्वस्वभावाऽऽदिभावैः, कर्माऽऽतोद्यैर्नर्तितानां नियत्या ॥

भावार्थ—सुख दुःखादिकों के भोग्य समय में और पूर्व जन्म में एकत्रित किये हुए पाप और पुण्य के अनुसार अर्थात् काल उद्योग स्वभावादि कर्म रूपी बाजों (बाजों) के साथ भाग्यद्वारा नाच के लिये प्रेरित किये जाने पर अनेक प्रकार से नाचते हुए प्राणियों के तथा पुद्गल रूपी नटों के लिये यह चउदह राज-लोक रङ्गमञ्च (नाचने की जगह) है ॥६॥

> एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या, विज्ञानां स्यान्मानसस्थैर्यहेतुः ।
> स्थैर्यं प्राप्ते मानसे चाऽऽत्मलीना, सुप्राप्यैवाऽध्यात्मसौख्यप्रसूतिः

होता है और मन के स्थिर होजाने पर आत्मा का हितकारक अध्यात्म सुख की उत्पत्ति भी सुलभ ही है ॥६॥

अथैकादशभावनाष्टकं काफीरागेण गीयते—

अब गाने योग्य अष्टपदी से काफीराग में लोकस्वरूप का वर्णन किया जाता है—

विनय! विभावय शाश्वतं, हृदि लोकाऽऽकाशम्।
सकलचराचरधारणे, परिणमदवकाशम् ॥विनय०॥१॥

भावार्थ—हे विनय! हे जीव! तुम निरन्तर अविनाशी, सम्पूर्ण जंगम और स्थावर पदार्थों के धारण करने में अवकाश वाले उस अनंत लोकाकाश का अपने हृदय में सद् विचार धारण करो ॥१॥

लसदलोकपरिवेष्टितं, गणनाऽतिगमानम्।
पञ्चभिरपि धर्मादिभिः, सुघटितसीमानम् ॥विनय०॥२॥

भावार्थ–वह सुन्दर पुरुषलोक अलोकाकाश से घिरा हुआ है, परिमाण से रहित है अर्थात् असंख्य (अनन्त) लोकाकाश स्वरूप है और धर्माधर्मादि पाँच द्रव्यों से उसकी सीमा (मर्यादा) बनी हुई है ऐसे चउदह राजलोक का हे चेतन! तुम अपने मनमें भली प्रकार विचार करो ॥२॥

समवघातसमये जिनैः, परिपूरितदेहम्।
असुमदणुकविविधक्रिया–,गुणगौरवगेहम् ॥विनय०॥३॥

भावार्थ—समुद्घात समय मे तीर्थङ्करों और सामान्य केवलियों के आत्मप्रदेशों से व्याप्त शरीर वाले तथा चराचर जीव और परमाणु, द्व्यणुकादि पुद्गल सम्बन्धी अनेक प्रकार की प्रवृत्ति, निवृत्ति उत्पत्ति, स्थिति विनाश रूप क्रिया का

तथा ज्ञानादि गुण गौरवों का स्थान लोकाकाश रूप चउदह राज-लोक का हे भव्यात्मा! तुम अपने दिल में ध्यान धरो ॥३॥

एकरूपमपि पुद्गलैः, कृतविविधविवर्तम् ।
काञ्चनशैलशिखरोन्नतं, क्वचिदवनतगर्तम् ॥विनय०॥४॥

भावार्थ—हे प्राणी! यह लोकाकाश वास्तव में एक ही स्व-रूप (आकार)का है तो भी पुद्गलों के भिन्न भिन्न परिणाम से अनेक स्वरूप वाला है जैसे कहीं तो सुमेरु पर्वत के शिखर के समान बहुत ऊँचा है और कहीं खड्डे की तरह अत्यन्त नीचा है ॥४॥

क्वचन तविषमणिमंदिरै-, रुदितोदितरूपम् ।
घोरतिमिरनरकाऽऽदिभिः, क्वचनाऽतिविरूपम् ॥विनय०॥५॥

भावार्थ—हे चेतन! कहीं पर तो यह लोक देवताओं के रत्नजड़ाऊ मंदिरों से देदीप्यमान स्वरूप वाला है और कहीं भयङ्कर अन्धकार से तथा दुर्गन्धियुक्त प्रेतवनों से एवं नरकादिकों से अत्यन्त खराब रूप वाला है ॥५॥

क्वचिदुत्सवमयमुज्ज्वलं, जयमङ्गलनादम् ।
क्वचिदमंदहाहारवं, पृथुशोकविषादम् ॥विनय०॥६॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा! इस लोक में किसी जगह तो आनन्द के उत्सवों की बड़ी भरमार हो रही है और कहीं पर हर्ष जयध्वनियों के साथ मंगल गान नृत्यादि हो रहा है, कहीं हा! पुत्र! हा! नाथ!! हा! बन्धो!!! इत्यादि प्रकार से हाहाकारमय विलाप हो रहा है तथा कहीं शोक और विषाद (दुःख)के बादल छाये हुए हैं यह सभी पुद्गलों का स्वरूप है ॥

बहुपरिचितमनन्तशो, निखिलैरपि सत्त्वैः ।
जन्ममरणपरिवर्तिभिः, कृतमुक्तममत्वैः ॥विनय०॥७॥

भावार्थ—हे चेतन! पहले अनन्त बार स्वीकार करके बाद में ममत्व-भाव को धारण कर त्याग करने वाले और वारम्बार जन्म-मरण द्वारा शरीरों को बदलने वाले समस्त प्राणियों से निश्चय करके अनेक बार अच्छी प्रकार जाना हुआ यह मनुष्य लोक है ॥७॥

इह पर्यटनपराङ्मुखाः, प्रणमत भगवन्तम्।
शान्तसुधारसपानतो, धृतविनयमवन्तम् ॥विनय०॥८॥

भावार्थ—हे भव्य जीवो! यदि तुम संसार के आवागमन से छूटना चाहते हो तो, विनय को धारण करने वाले शान्तरूपी अमृत रस के पान से रक्षा करने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को बार बार नमस्कार करो ॥८॥

उपरोक्त प्रकार से लोकस्वरूप का चिन्तन करना लोकस्वरूप भावना कहलाती है। इस भावना का अच्छी तरह चिन्तन करने से भुवनभानु मुनि और चन्द्रमौली राजा परम सुख को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकायामेकादशः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ द्वादशी बोधिदुर्लभ-भावना प्रारभ्यते—

एकादश प्रकाश के अन्तिम श्लोक में यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान् विनयी जनों को शान्तरूपी अमृतरस पिलाकर उनकी रक्षा करते हैं। परन्तु विनय धर्म से प्राप्त होता है और धर्म की प्राप्ति ज्ञान से होती है लेकिन उस ज्ञान की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। अतः सम्बन्ध परम्परा से प्राप्त 'बोधिदुर्लभभावना' का इस द्वादश प्रकाश में विवेचन किया जाता है।

मन्दाक्रान्ता–छन्द–

यस्माद्विस्मापयितसुमनःस्वर्गसम्पद्विलास,–
प्राप्तोल्लासाः पुनरपि जनिः सत्कुले भूरिभोगे ।
ब्रह्माऽद्वैतप्रगुणपदवीप्रापकं निःसपत्नं ,
तद्दुष्प्रापं भृशमुरुधियः सेव्यतां बोधिरत्नम् ॥१॥

भावार्थ—हे विशाल बुद्धिवाले प्राणियो ! जिस बोधिरत्न के प्रभाव से भव्यजन, देवताओं को भी आश्चर्य से चकित करने वाली स्वर्गीय सम्पत्तियों की अधिकता से आनन्द को प्राप्त होते हुए वहाँ से च्युत होकर फिर इस संसार में भी वे ऐश्वर्यसम्पन्न श्रेष्ठ कुल में जन्म लेते हैं। इसलिये शुद्ध, निरञ्जन, निर्लेप, वीतराग ब्रह्म–परमात्मा के अलौकिक पद को प्राप्त कराने वाला, कामादिक वैरियों से रहित इस अतिदुर्लभ सम्यक्त्व रूपी रत्न का आप लोग निरन्तर सेवन करें ॥१॥

भुजङ्गप्रयात–छन्द–

अनादौ निगोदान्धकूपे स्थितानां,–
अजस्रं जनुर्मृत्युदुःखार्दितानाम् ।
परीणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्या–,
यया हन्त ! तस्माद्विनिर्यान्ति जीवाः ॥२॥

ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वं, त्रसत्वं पुनर्दुर्लभं देहभाजाम्।
त्रसत्वेऽपि पञ्चाक्षपर्याप्तसंज्ञि स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम्॥

भावार्थ—उस निगोद रूप कुए से बाहिर निकलने के बाद भी जीवों को स्थावर शरीर ही प्राप्त होता है और फिर स्थावर शरीर को भी छोड़ने पर उन्हें दुर्लभ जंगम (पशु आदि का) शरीर प्राप्त होता है तथा उस जंगम शरीर में भी पाँच इन्द्रियों से युक्त, बड़ी आयु वाला मनुष्य जन्म बड़ी ही दुर्लभता से मिलता है ॥३॥

तदेतन्मनुष्यत्वमाप्याऽपि मूढः, महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः।
भ्रमन्दूरमग्नो भवाऽगाधगर्त्ते, पुनः क्व प्रपद्येत तद्बोधिरत्नम् ?॥४॥

भावार्थ—इस अलभ्य मनुष्य जन्म को पाकर के भी अट्ठाईस प्रकार के मोह, मिथ्यात्व और कपट से युक्त मूर्ख प्राणी इस संसार रूपी अथाह खड्डे में अर्थात् अत्यन्त गहरे खड्डे में डूब कर भटकता हुआ उस सम्यक्त्व रूपी रत्न को किस क्षेत्र में फिर पा सकता है ? अर्थात् किसी में भी नहीं पा सकेगा ॥४॥

शिखरिणी—छन्द—

विभिन्नाः पन्थानः प्रतिपदमनल्पाश्च मतिनः,
कुयुक्तिव्यासंगैर्निजनिजमनोल्लासरसिकाः।
न देवाः सान्निध्यं विदधति न वा कोऽप्यतिशय-
स्तदेवं कालेऽस्मिन् य इह दृढधर्मा स सुकृती ॥५॥

भावार्थ—इस वर्तमान समय (कलियुग) में अनेकों मतमतान्तर रूपी मार्ग पृथक् पृथक् फैले हुए हैं और कुतर्क तथा कुयुक्तियों से अपने अपने मत की पुष्टि के आनन्द की मस्ती में निमग्न हुए बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक, चार्वाक

मन्दाक्रान्ता-छन्द-

यस्माद्विस्मापयितसुमनःस्वर्गसम्पद्विलास,-
प्राप्तोल्लासाः पुनरपि जनिः सत्कुले भूरिभोगे।
ब्रह्माऽद्वैतप्रगुणपदवीप्रापकं निःसपत्नं,
तद्दुष्प्रापं भृशमुरुधियः सेव्यतां बोधिरत्नम्॥१॥

भावार्थ—हे विशाल बुद्धिवाले प्राणियो! जिस बोधिरत्न के प्रभाव से भव्यजन, देवताओं को भी आश्चर्य से चकित करने वाली स्वर्गीय सम्पत्तियों की अधिकता से आनन्द को प्राप्त होते हुए वहाँ से च्युत होकर फिर इस संसार में भी वे ऐश्वर्यसम्पन्न श्रेष्ठ कुल में जन्म लेते हैं। इसलिये शुद्ध, निरञ्जन, निर्लेप, वीतराग ब्रह्म-परमात्मा के अलौकिक पद को प्राप्त कराने वाला, कामादिक वैरियों से रहित इस अतिदुर्लभ सम्यक्त्व रूपी रत्न का आप लोग निरन्तर सेवन करें॥१॥

भुजङ्गप्रयात-छन्द-

अनादौ निगोदान्धकूपे स्थिताना,-
मजस्रं जनुर्मृत्युदुःखार्दितानाम्।
परीणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्या-,
द्यया हंत! तस्माद्विनिर्यान्ति जीवाः॥२॥

भावार्थ—बड़े ही दुःख की बात है कि अनादि काल से निगोद के अनन्त सूक्ष्म शरीर रूपी अन्धकार से भरे हुए कुएँ में पड़े हुए और हमेशा जन्म-मरणादिकों के दुःखों से दुःखित प्राणियों के दुःखों को दूर करने वाली वह महोज्ज्वल परिणाम शुद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है जिसके प्रभाव से साधारण प्राणी भी उस निगोद रूप अन्धकूप से बाहर निकल सकें॥२॥

ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वं, त्रसत्वं पुनर्दुर्लभं देहभाजाम्।
त्रसत्वेऽपि पञ्चाक्षपर्याप्तसंज्ञि स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम्॥

भावार्थ—उस निगोद रूप कुण्ड से बाहिर निकलने के बाद भी जीवों को स्थावर शरीर ही प्राप्त होता है और फिर स्थावर शरीर को भी छोड़ने पर उन्हें दुर्लभ जंगम (पशु आदि का) शरीर प्राप्त होता है तथा उस जंगम शरीर में भी पाँच इन्द्रियों से युक्त, बड़ी आयु वाला मनुष्य जन्म बड़ी ही दुर्लभता से मिलता है ॥३॥

तदेतन्मनुष्यत्वमाप्याऽपि मूढः, महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः।
भ्रमन्दूरमग्नो भवाऽगाधगर्त्ते, पुनः क्व प्रपद्येत तद्बोधिरत्नम् ?॥४॥

भावार्थ—इस अलभ्य मनुष्य जन्म को पाकर के भी अट्ठाईस प्रकार के मोह, मिथ्यात्व और कपट से युक्त मूर्ख प्राणी इस संसार रूपी अथाह खड्डे में अर्थात् अत्यन्त गहरे खड्डे में डूब कर भटकता हुआ उस सम्यक्त्व रूपी रत्न को किस क्षेत्र में फिर पा सकता है ? अर्थात् किसी में भी नहीं पा सकेगा ॥४॥

शिखरिणी—छन्द—

विभिन्नाः पन्थानः प्रतिपदमनल्पाश्च मतिनः,
कुयुक्तिव्यासंगैर्निजनिजमनोल्लासरसिकाः।
न देवाः सान्निध्यं विदधति न वा कोऽप्यतिशय-
स्तदेवं कालेऽस्मिन् य इह दृढधर्मा स सुकृती ॥५॥

भावार्थ—इस वर्तमान समय (कलियुग)में अनेकों मतमतान्तर रूपी मार्ग पृथक् पृथक् फैले हुए हैं और कुतर्क तथा कुयुक्तियों से अपने अपने मत की पुष्टि के आनन्द की मस्ती में निमग्न हुए बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक, चार्वाक

आदि जगह जगह विद्यमान हैं इस विकराल कलिकाल में प्रत्येक बात में प्राणियों के अयोग्य होने के कारण देवता भी दर्शन नहीं देते अथवा हममें ज्ञानादिक की अधिकता भी कहाँ है? इसलिये ऐसे इस भयानक समय मे जो प्राणी देव, गुरु, और धर्म में अटल श्रद्धावाला है वही पुण्यशाली जीव है ॥५॥

शार्दूलविक्रीडित—वृत्त—

यावद्देहमिदं गदैर्न मृदितं नो वा जराजर्जरं,
यावत्त्वक्षकदम्बकं स्वविषयज्ञानावगाहक्षमम्।
यावच्चायुरभङ्गुरं निजहिते तावद् बुधैर्यत्यतां,
कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते ?॥६॥

भावार्थ—जब तक यह शरीर कुष्ठ, भगन्दर, ज्वरादि भयंकर रोगों से पीड़ित नहीं है और न बुढ़ापे से ही जीर्ण (शिथिल) है जब तक यह इन्द्रियों का समूह अपने २ विषयों के ज्ञान का पता लगाने में समर्थ है और जब तक जीवन विद्यमान है तब तक ही विद्वानों को चाहिये कि वे अपने कल्याण के लिये प्रयत्न करलें क्योंकि—तालाब के फूट जाने पर तथा पानी के बाहिर बहने पर पाल कैसे बाँधा जा सकता है? ॥६॥

अनुष्टुप्—छन्द—

विविधोपद्रवं देह—मायुश्च क्षणभङ्गुरम्।
कामालम्ब्य धृतिं मूढैः, स्वश्रेयसि विलम्ब्यते ? ॥७॥

भावार्थ—मनुष्यों का यह शरीर नानाप्रकार के उपद्रवों से युक्त है और उनकी आयु भी क्षणभर में ही नष्ट होने वाली है तो फिर ये मूर्ख लोग किस धैर्य का सहारा लेकर अपने आत्मकल्याण के साधन में देर कर रहे हैं? ॥७॥

अथ द्वादशबोधिदुर्लभभावनाष्टकं धनश्रीरागेण गीयते—

अब गाने योग्य धन्यश्री राग मे अथवा कडरखा की देशी में अष्टक से बोधिदुर्लभ-भावना गायन की जाती है-

"बुध्यतां बुध्यतां बोधिरतिदुर्लभा,
जलधिजलपतितसुररत्नयुक्त्या ।"
सम्यगाराध्यतां स्वहितमिह साध्यतां,
बाध्यतामधरगतिरात्मशक्त्या ॥बुध्यतां०॥१॥

भावार्थ—हे प्राणियों ! तुम्हें यह अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये कि समुद्र के जल में अपने हाथ से पड़े हुए चिन्तामणि रत्न की तरह मनुष्य जन्म आदि धर्म साधन की सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत मुश्किल से मिली हुई उस बोधि का अच्छी तरह आराधन करते हुए इस संसार में तुम लोग अपने हित का साधन करो और अपनी सामर्थ्य से नरकादि अधोगति-दुर्गति को दूर करो (रोको) ॥१॥

चक्रिभोज्यादिरिव नरभवो दुर्लभो, भ्राम्यतां घोरसंसारकक्षे ।
बहुनिगोदाऽऽदिकायस्थितिव्यायते, मोहमिथ्यात्वमुखचौरलक्षे ॥

भावार्थ--मोह और मिथ्यात्व आदि चोरों के निवासस्थान, अनन्त निगोद आदि शरीरों की स्थिति से अत्यन्त विशाल इस संसार रूपी भयङ्कर जंगल में इधर उधर भटकते हुए जीवों को चक्रवर्ती के भोजन की तरह यह मनुष्य जन्म फिरसे मिलना बहुत ही दुर्लभ है ॥२॥

लब्ध इह नरभवोऽनार्यदेशेषु यः,
स भवति प्रत्युताऽनर्थकारी ।
जीवहिंसाऽऽदिपापाऽऽश्रवव्यसनिनाम्,
माघवत्यादि--मार्गाऽनुसारी ॥बुध्यतां०॥३॥

भावार्थ-हे चेतन! इस संसार में म्लेच्छ देशों में मिला हुआ जो मनुष्य शरीर है वह तो केवल जीव हिंसा, मिथ्या भाषण, चोरी और मैथुन आदि पाप करने म आसक्त प्राणियों को सप्तम माघवति नरकादि दुर्गतिको प्राप्त कराने के कारण उल्टा अनर्थकारी ही होता है ॥३॥

आर्यदेशस्पृशामपि सुकुलजन्मनाम्,
दुर्लभा विविदिषा धर्मतत्त्वे।
रतपरिग्रहभयाऽऽहारसंज्ञार्तिभिः,
हंत! मग्नं जगद्दुःस्थितत्वे ॥बुध्यतां०॥४॥

भावार्थ—मगध आदि धार्मिक एवं पवित्र देशों में भी श्रेष्ठ कुल में जन्म लेनेवाले जीवों को भी धर्मतत्त्व के जानने की इच्छा बड़ी मुश्किल से होती ह। क्योंकि-मथुन, परिग्रह-ममता, भय, आहारादि पदार्थों के नाम से उत्पन्न हुई पीड़ाओं से यह संसार दुर्दशा रूपी समुद्र मे डूब गया है अर्थात् धार्मिक विचारों से शून्य होगया है। यह बड़े ही दुःख की बात है ॥४॥

विविदिषायामपि श्रवणमतिदुर्लभं,
धर्मशास्त्रस्य गुरु-सन्निधाने।
वितथविकथाऽऽदितत्तद्रसाऽऽवेशतो,
विविधविक्षेपमलिनेऽवधाने ॥बुध्यतां०॥५॥

भावार्थ—हे चेतन! मिथ्या शास्त्रों की असत्कथाओं, नृत्य, गीत आदि विषयों के सुनने और देखने से उत्पन्न होते हुए उन उन विषयों के अनुराग से अनेक प्रकार के प्रमादों से चित्त के मलिन होजाने के कारण, धर्म तत्त्व के जानने की

इच्छा होने पर भी प्राणियों को धर्मोपदेश देने वाले आचार्य के पास में धर्म शास्त्र का श्रवण करना अत्यन्त दुर्लभ है ॥५॥

धर्ममाकर्ण्य सम्बुध्य तत्रोद्यमं,
कुर्वतो वैरिवर्गोऽन्तरङ्गः।
रागद्वेषश्रमाऽऽलस्यनिद्रादिको,
बाधते निहतसुकृतप्रसङ्गः ॥बुध्यतां०॥६॥

भावार्थ-पहिले जन्म में किये हुए पुण्य के प्रभाव से धर्म कथाओं को सुनकर और अच्छी प्रकार बोध पाकर संयम के पालन करने में प्रयत्न करते हुए प्राणी के मार्ग में, पुण्य समूह को नष्ट करने वाला, राग-द्वेष श्रम, आलस्य और निद्रा आदि अन्दरूनी शत्रु-समूह बाधा करता है ॥६॥

चतुरशीतावहो! योनिलक्षेष्वियम्,
क्व त्वयाऽऽकर्णिता धर्मवार्ता ?।
प्रायशो जगति जनता मिथो विवदते,
ऋद्धि-रस-शात-गुरु-गौरवार्ता ॥बुध्यतां०॥७॥

भावार्थ—हे चेतन! आश्चर्य है कि चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए तुमने यह धर्मकथा किस योनि में सुनी है? अर्थात् किसी भी योनि में नहीं सुनी क्योंकि-अक्सर-बहुत करके संसार में धन कुटुम्ब आदि सम्पत्ति, षड्रस भोजन की स्वादिष्टता और विषयवासनाओं से उत्पन्न होनेवाले सुखों के अधिक प्रेम से पीड़ित जनता (प्रजा) आपस में कलह (झगड़ा) करने में ही विशेष करके मग्न रहती है ॥७॥

एवमतिदुर्लभात्प्राप्य दुर्लभतमं,
बोधिरत्नं सकलगुणनिधानम्।

कुरु गुरु-प्राज्य-विनय-प्रासादो-दितम्,
शान्त-रस-सरस-पीयूषपानम् ॥बुध्यतां०॥८॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा ! इस प्रकार अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने योग्य चिन्तामणि रत्न से भी अधिक दुर्लभ, सम्पूर्ण गुणों की खान श्रेष्ठ गुरु की प्रचुर भक्ति की कृपा से प्राप्त शान्त रस रूपी सरस अमृत का तुम तृप्त होकर आस्वादन करो।

उपरोक्त प्रकार से चिंतन करना 'बोधिदुर्लभ' भावना कहलाती है। उसका चिन्तन करने से श्रीधर्मगति अणगार और श्रेणिक राजा परम सुख को प्राप्त हुए ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्यां भाषाटीकायां
द्वादशः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ त्रयोदशी 'मैत्री-भावना' प्रारभ्यते—

पहली अनित्य-भावना से लेकर बारहवीं बोधिदुर्लभ-भावना तक आत्मदर्शन आत्मवर्तन, अनुप्रेक्षा आदि का अच्छी प्रकार वर्णन किया गया है। अब त्रयोदश प्रकाश से लेकर षोडश प्रकाश पर्यन्त ध्यान रूपी सुन्दर मन्दिर में चढ़ने के कारणभूत मैत्री आदि चार भावनाओं का विवेचन किया जायगा। इन चारों भावनाओं में सर्व प्रथम मैत्रीभावना का संबन्ध होने से क्रमानुसार पहले उसी का विवरण लिखा जाता है—

अनुष्टुप्—छन्द—

सद्धर्मध्यानसंध्यान-हेतवः श्रीजिनेश्वरैः।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ता-श्चतस्रो भावनाः पराः ॥१॥

भावार्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानों से, निर्दोष धर्मयुक्त ध्यान को चित्त में स्थिर करने की कारणभूत मैत्री आदि चार श्रेष्ठ भावनाएँ जैनशास्त्रों में कही गई है ॥१॥

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य,-माध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥२॥

भावार्थ—धर्मयुक्त ध्यान की सहायता के लिये विद्वानों को चाहिये कि वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य-दया और माध्यस्थ इन चार गुणों का सेवन करें। क्योंकि-उन मैत्री आदि गुणोंका सेवन निश्चय करके उस धर्मयुक्त ध्यान के लिए अमोघ औषध स्वरूप है ॥२॥

उपजाति-वृत्त-

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्, भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः।
कारुण्यमार्ताऽङ्गिरुजां जिहीर्षे,-त्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा ॥३॥

भावार्थ—अपने से भिन्न (दूसरे) प्राणियों के हित (भलाई) की चिन्ता करना मैत्री (मित्रभाव) कहलाता है। और दूसरों के ज्ञान, विवेक, विनय, सुख आदि गुणों में प्रेम रखना अथवा पक्ष करना प्रमोद कहलाता है। नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित प्राणियों के कष्टों को दूर करने की इच्छा करुणा कहलाती है। और परधन तथा परस्त्रियों के भोगने में तथा अनेक प्रकार के पाप करने में तत्पर रहे हुए प्राणियों की उपेक्षा करना-उदासीनता रखना वह माध्यस्थ भावना कहलाती है ॥३॥

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयाऽऽत्मन्!,
चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः।
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन्,
किं खिद्यते वैरिधिया परस्मिन्? ॥४॥

भावार्थ—हे जीव! तुम समस्त प्राणियों में मित्रभाव की धारणा करो और इस संसार में किसी को अपना शत्रु मत

समझो। थोड़े ही दिन के अतिथि (पाहुने) इस जीवन में अन्य प्राणियों को अपना शत्रु समझ कर तुम क्यों वृथा दुःखी होते हो ? और ऐसा आचरण करने से निरर्थक नवीन कर्म क्यों बांधते हो ? ॥४॥

सर्वेऽप्यमी बन्धुतयाऽनुभूताः, सहस्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ।
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे, न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि ॥

भावार्थ—हे आत्मा ! इस संसार रूपी अपार समुद्र में हजारों बार तुमने एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त ये सभी जीव क्रम से माता, पिता, भाई, स्त्री और पुत्र आदि कुटुम्ब रूप से प्राप्त किये हैं। अतः ये सब प्राणी तुम्हारे कुटुम्बी ही हैं। तुम्हारा कोई भी शत्रु नहीं है ऐसा तुम निश्चित समझो॥

सर्वे पितृभ्रातृपितृव्यमातृ-पुत्राङ्गजास्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।
जीवाः प्रपन्नाः बहुशस्तदेतत्, कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्॥

भावार्थ—हे भव्यजीव ! संसार के सभी प्राणियों ने माता, पिता, काका, भाई, पुत्र, पुत्री, भार्या, बहिन और पुत्रवधू आदि अनेक भावों से अनन्त वार तुम्हारा सम्बन्ध प्राप्त कर चुके हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस लिए ये सब संसार के स्थावर जंगम प्राणी तुम्हारे कुटुम्ब ही हैं। इनमें से तुम्हारा कोई भी शत्रु नहीं है॥६॥

इन्द्रवज्रा—छन्द—

एकेन्द्रियाऽऽद्या अपि हन्त ! जीवाः,
पञ्चेन्द्रियत्वादधिगत्य सम्यक्।
बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते ?,
भूयो भवभ्रान्तिभिया विरामम् ॥७॥

भावार्थ—हे चेतन ! वह दिन कब आवेगा, जिस दिन

एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रियवाले भी संसारी प्राणी सुन्दर पाँच इन्द्रियों से युक्त मनुष्य शरीर को पाकर तथा बोधि–सम्यक्त्वभाव की सफलता पूर्वक आराधन करके संसार में भ्रमण से उत्पन्न होने वाले दुःखों के अन्त को प्राप्त कर सकेंगे। अर्थात् उन दुःखों का नाश करने में वे कब समर्थ होंगे? ॥७॥

यो रागरोषाऽऽदिरुजो जनानां, शाम्यन्तु वाक्कायमनोद्रुहस्ताः।
सर्वेप्युदासीनरसं रसन्तु, सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु ॥८॥

भावार्थ—प्राणियों के तन, मन और वचन को दुःख देने वाले जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग और द्वेष रूपी रोग हैं वे शीघ्र ही शान्त (नष्ट) हो जावें और सभी प्राणी माध्यस्थ (उदासीन) भाव का आस्वादन करें तथा जीव मात्र सर्वदा सुखी होवें ॥८॥

अथ त्रयोदश–भावनाष्टकं देशाखरागेण गीयते—

अब देशाख राग से गाने योग्य अष्टक में 'मैत्री' का विचार किया जाता है—

विनय ! विचिन्तय मित्रतां, त्रिजगति जनतासु।
कर्मविचित्रतया गतिं, विविधां गमितासु ॥विनय०॥१॥

भावार्थ—हे विनय! मोक्ष के अभिलाषी प्राणी! तीनों जगत में अपने भिन्न भिन्न कर्मानुसार तरह तरह की दशाओं को प्राप्त होते हुए प्राणियों में तुम मित्रभाव का विचार करो अर्थात् प्राणी मात्र में प्रेम रक्खो ॥१॥

सर्वे ते प्रियबांधवा, नहि रिपुरिह कोऽपि।
मा कुरु कलिकलुषं मनो, निजसुकृतविलोपि ॥विनय०॥२॥

भावार्थ—हे चेतन! इस असार संसार में वे पहिले कहे हुए सब प्राणी तुम्हारे कुटुम्बी ही हैं। यहाँ तुम्हारा कोई भी

समझो। थोड़े ही दिन के अतिथि (पाहुने) इस जीवन में अन्य प्राणियों को अपना शत्रु समझ कर तुम क्यों वृथा दुःखी होते हो ? और ऐसा आचरण करने से निरर्थक नवीन कर्म क्यों बांधते हो ? ॥४॥

सर्वेऽप्यमी बन्धुतयाऽनुभूताः, सहस्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ।
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे, न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि ॥

भावार्थ—हे आत्मा! इस संसार रूपी अपार समुद्र में हजारों बार तुमने एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त ये सभी जीव क्रम से माता, पिता, भाई, स्त्री और पुत्र आदि कुटुम्ब रूप से प्राप्त किये हैं। अतः ये सब प्राणी तुम्हारे कुटुम्बी ही हैं। तुम्हारा कोई भी शत्रु नहीं है ऐसा तुम निश्चित समझो॥

सर्वे पितृभ्रातृपितृव्यमातृ-पुत्राङ्गजास्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।
जीवाः प्रपन्नाः बहुशस्तदेतत्, कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्॥

भावार्थ—हे भव्यजीव! संसार के सभी प्राणियों ने माता, पिता, काका, भाई, पुत्र, पुत्री, भार्या, बहिन और पुत्रवधू आदि अनेक भावों से अनन्त बार तुम्हारा सम्बन्ध प्राप्त कर चुके हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस लिए ये सब संसार के स्थावर जंगम प्राणी तुम्हारे कुटुम्ब ही हैं। इनमें से तुम्हारा कोई भी शत्रु नहीं है॥६॥

इन्द्रवज्रा—छन्द—

एकेन्द्रियाऽऽद्या अपि हन्त! जीवाः,
पञ्चेन्द्रियत्वादधिगत्य सम्यक्।
बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते?,
भूयो भवभ्रान्तिभिया विरामम् ॥७॥

भावार्थ—हे चेतन! वह दिन कब आवेगा, जिस दिन

शत्रु नहीं है। इसलिए तुम अपने मन को अपने पवित्र पुण्य को नष्ट करने वाले क्रोध से दूषित मत करो। इसी में तुम्हारा भला है ॥२॥

यदि कोपं कुरुते परो, निजकर्मवशेन ।
अपि भवता किं भूयते?, हृदि रोषवशेन ॥विनय०॥३॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा! अगर कोई दूसरा अज्ञानी पुरुष अपने शुभ और अशुभ कर्मों के वश में होकर तुम्हारे पर क्रोध करता है तो क्या तुम्हें भी उनकी तरह हृदय में क्रोध करना उचित है? अर्थात् तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये क्योंकि तुम विचारशील हो ॥३॥

अनुचितमिह कलहं सतां, त्यज समरसमीन! ।
भज विवेककलहंसतां, गुणपरिचयपीन! ॥विनय०॥४॥

भावार्थ—हे समता रूपी समुद्र के मत्स्य! इस संसार में कलह करना सज्जन पुरुषों के योग्य नहीं है अतः तुम उस कलह का त्याग कर दो। हे क्षमा आदि गुणों की वृद्धि से परिपुष्ट शरीर वाले जीव! कर्तव्य और अकर्तव्य रूप मिले हुए क्षीर नीर को अलग करने वाले विवेक (चातुर्य) को तुम प्राप्त करो। आशय यह है कि-हंस जिस प्रकार मिले हुए क्षीर नीर को पृथक् पृथक् करके क्षीर को पी लेता है और पानी का त्याग कर देता है वैसे ही तुम भी कर्तव्य और अकर्तव्य में से कर्तव्य का ग्रहण करके अकर्तव्य को छोड़ दो ॥४॥

शत्रुजनाः सुखिनः समे, मत्सरमपहाय ।
सन्तु गन्तुमनसोऽप्यमी, शिवसौख्यगृहाय ॥विनय०॥५॥

भावार्थ—मुझे शत्रु समझने वाला सब प्राणी द्वेष बुद्धि को छोड़कर समभाव को प्राप्त होते हुए सुखी होवें तथा वे मेरे

अथ चतुर्दशी 'प्रमोद-भावना' प्रारभ्यते—

तेरहवे प्रकाश मे 'मैत्री-भावना' का विचार किया गया है। मैत्री भाव के प्राप्त हो जाने पर जीव गुणवान् हो जाते है। गुणवान् होने पर उन्हे दूसरों के गुणों से प्रमोद-हर्ष होना है। इस परम्परा सम्बन्ध से अब चउदहवीं 'प्रमोद-भावना' का विवेचन किया जाता है। जिसका यह पहला श्लोक है-

स्रग्धरा-छन्द-

धैन्यास्ते[२][३] वीतरागाः क्षपकपथगतिक्षीणकर्मोपरागा,-
स्त्रैलोक्ये गन्धनागाः सहजसमुदितज्ञानजाग्रद्विरागाः।
अध्यारुह्याऽऽत्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा,-
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जिताऽऽर्हन्त्यलक्ष्मीम् ॥१॥

भावार्थ—जो धर्मजीव इस संसार की विषयवासनाओं से रहित है, क्षपकश्रेणी की प्राप्ति से जिनका शुभाशुभ कर्मो का सम्बन्ध नष्ट होगया है, जो तीनों लोकों मे गन्धवाले गन्ध-हस्तियों के समान विराजमान है, जो स्वभाव से ही उत्पन्न सम्यक्त्व आदि ज्ञानगुणों से उज्ज्वल वैराग्यवाले हैं और जो मन की पवित्रता से पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति के समान अत्यन्त उज्ज्वल ध्यान धारा पर आरूढ़ होकर पूर्व जन्म में किये हुए सकड़ों पुण्यों से तीर्थङ्करों की समृद्धि को पाकर, मोक्ष नगरी को प्राप्त हुए हैं वे ही इस संसार में धन्य है, कृतकृत्य हैं, और प्रशंसा के पात्र है ॥१॥

तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनुगुणगणैर्निर्मलाऽऽत्मस्वभावैः,
गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णाऽऽस्पदानि।

अथ चतुर्दशी 'प्रमोद-भावना' प्रारभ्यते—

तेरहवे प्रकाश मे 'मैत्री-भावना' का विचार किया गया है। मैत्री भाव के प्राप्त हो जाने पर जीव गुणवान् हो जाते हैं। गुणवान् होने पर उन्हें दूसरों के गुणों मे प्रमोद-हर्ष होता है। इस परम्परा सम्बन्ध से अब चवदहवीं 'प्रमोद-भावना' का विवेचन किया जाता है। जिसका यह पहला श्लोक है—

स्रग्धरा—छन्द—

धन्यास्ते वीतरागाः क्षपकपथगतिक्षीणकर्मोपरागा,-
स्त्रैलोक्ये गन्धनागाः सहजसमुदितज्ञानजाग्रद्विरागाः।
अध्यारुह्याऽऽत्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा,-
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जिताऽऽर्हन्त्यलक्ष्मीम् ॥१॥

भावार्थ—जो धर्मजीव इस संसार की विषयवासनाओं से रहित हैं, क्षपकश्रेणी की प्राप्ति से जिनका शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध नष्ट होगया है, जो तीनों लोकों में गन्धवाले गन्ध-हस्तियों के समान विराजमान है, जो स्वभाव से ही उत्पन्न सम्यक्त्व आदि ज्ञानगुणों से उज्ज्वल वैराग्यवाले हैं और जो मन की पवित्रता से पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति के समान अत्यन्त उज्ज्वल ध्यान धारा पर आरूढ़ होकर पूर्व जन्म में किये हुए सकड़ों पुण्यों से तीर्थङ्करों की समृद्धि को पाकर, मोक्ष नगरी को प्राप्त हुए हैं वे ही इस संसार में धन्य है, कृतकृत्य हैं, और प्रशंसा के पात्र हैं ॥१॥

तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनुगुणगणैर्निर्मलाऽऽत्मस्वभावैः,
गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णाऽऽस्पदानि।

[१४]धन्यां [१५]मन्ये [१३]रसज्ञां [१०]जगति [११]भगवतः [१२]स्तोत्रवाणीरसज्ञा,-
[१८]मज्ञां [१९]मन्ये [१७]तदन्यां [१६]वितथजनकथाकार्यमौखर्यमग्नाम् ॥२॥

भावार्थ—मुक्ति रूपी नगरी को पाये हुए उन भव्यात्माओं के शुभ और अशुभ कर्मों के नाश होने से उत्पन्न होने वाले अनन्त सद्गुणों को और सत्कवियों से प्रशंसित, उन कर्म-मल रहित आत्मस्वरूप के गुणों को बारम्बार गाता हुआ मैं कण्ठ, तालु, जिह्वा, दन्त, ओष्ठ, नासिका, उरः-हृदय और मस्तक इन आठ स्थानों को पवित्र करता हूँ। इस संसार में भगवान् के स्तुति वचनों के रस को जानने वाली जिह्वा को मैं धन्य मानता हूँ और मिथ्यात्व बुद्धिवाले लोगों की वार्ता करने में वाचालता को प्राप्त हुई तथा प्रभु की स्तुति के रस को नहीं जानने वाली जिह्वा को मैं व्यर्थ ही मानता हूँ ॥२॥

[१४]निर्ग्रन्थास्ते[१९]ऽपि[२०] [२१]धन्या गिरि[१]गहनगुहागह्वराऽन्तर्निविष्टाः,
[२]धर्मध्यानाऽवधानाः [३]समरससुहिताः [४]पक्षमासोपवासाः।
[१३]येऽन्ये[११]ऽपि[१२] [५]ज्ञानवन्तः [६]श्रुतविततधियो [७]दत्तधर्मोपदेशाः,
[८]शान्ता [९]दान्ता [१०]जिताक्षा [१५]जगति [१६]जिनपतेः [१७]शासनं [१८]भासयन्ति ॥३॥

भावार्थ—पहाड़ों की गुफाओं में और भयंकर जंगलों की सघन झाड़ियों में रहने वाले, समाधियोग में लीन, समता रूपी अमृत रस के पान से सन्तुष्ट, पक्षोपवास और मासोपवास आदि विविध प्रकार के तपों का साधन करने वाले जो निर्ग्रन्थ महात्मा हैं वे धन्य हैं और जो दूसरे सिद्धान्त शास्त्रों के विचार करने में विकसित बुद्धिवाले, ज्ञानी, ध्यानी धार्मिक उपदेश देनेवाले, शान्तियुक्त, उदार तथा जितेन्द्रिय महात्मा संसार में जिनेन्द्र भगवान् के शासन को सदैव प्रदीप्त (प्रकाशमान) करते हैं वे भी धन्य है ॥३॥

दानं शीलं तपो ये विदधति गृहिणो भावनां भावयन्ति,
धर्मं धन्याश्चतुर्धा श्रुतसमुपचितश्रद्धयाऽऽराधयन्ति।
साध्व्यः श्राद्धयश्च धन्याः श्रुतविशदधिया शीलमुद्भावयन्त्य-
स्तान्सर्वान्मुक्तगर्वाः प्रतिदिनमसकृद् भाग्यभाजः स्तुवन्ति॥४॥

भावार्थ—जो महापुरुष दान देते हैं, सदाचार का पालन करते हैं, अनशन, प्रायश्चित्त, ध्यान आदि बारह प्रकार की तपस्या करते हैं और शुभ भावनाओं का चिन्तन करते हैं तथा शास्त्रों के कथनानुसार श्रद्धा पूर्वक चार प्रकार के धर्म का विधि पूर्वक आराधन करते हैं वे सब गृहस्थ प्राणी धन्य हैं। और जो साध्वियें तथा श्राविकाएं शास्त्रों के अभ्यास से निर्मल बुद्धि द्वारा शीलादि उत्तम धर्म का पालन करती हैं वे सभी धन्य हैं। जिनेन्द्रों से लेकर श्राविका पर्यन्त उन सब पवित्रात्माओं की हमेशा अनेक बार गर्व रहित भाग्यशाली सत्पुरुष ही स्तुति किया करते हैं ॥४॥

सम्यक्त्व युक्त जनों की स्तुति तो उचित है ही परन्तु मिथ्यादृष्टि वाले प्राणियों के भी सद्गुणों की स्तुति करनी चाहिये। यह बात अग्रिम श्लोक में बताई जाती है—

उपजाति-छन्द—

मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोषसत्याऽऽदिगुणप्रसारम्।
वदान्यता वैनयिकप्रकारं, मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः॥५॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि वाले प्राणियों के भी परोपकारता, संतोष, सत्यवादिता, क्षमा आदि उदार गुणों का, एवं अभय आदि पाँच प्रकार के दान का, अधिक विनय का और मुक्तिमार्ग के अनुकूल आचरण करने वालों का हम भी अनुमोदन करते हैं अर्थात् हम भी उन की सदैव प्रशंसा करते हैं॥५॥

स्रग्धरा-छन्द-

जिह्वे! प्रह्वी भव त्वं सुकृतिसुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,
भूयास्तामन्यकीर्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौ सुकर्णौ ।
वीक्ष्याऽन्यप्रौढलक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुतं लोचने रोचनत्वं,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो मुख्यमेव ॥६॥

भावार्थ—हे जिह्वे! अत्यन्त प्रसन्न होती हुई तूं पुण्यशाली मनुष्यों के दान, शील और तप आदि सद्गुणों के वर्णन करने में अतीव आसक्त हो अर्थात् तूं धार्मिक पुरुषों की प्रशंसा करने में तत्पर हो और इस जन्म में मेरे ये दोनों कान दूसरों के यश को सुनने में प्रेमवाले होने से नाम की सार्थकता को ग्रहण करें तथा दूसरों के दिनोदिन बढ़ते हुए ऐश्वर्य को देख-कर मेरे ये दोनों नेत्र शीघ्र ही खुशी से हर्षित होवें क्योंकि-इस असार संसार में उत्पन्न होने वाली जिह्वा, कान, चक्षु आदि इन्द्रियों के जन्म लेने का यही मुख्य-शुभ फल है ॥६॥

उपजाति-छन्द-

प्रमोदमासाद्य गुणैः परेषां, येषां मतिर्मज्जति साम्यसिन्धौ ।
देदीप्यते तेषु मनःप्रसादो, गुणास्तथैते विशदीभवन्ति ॥७॥

भावार्थ—दूसरों के सद्गुणों से हर्षित होती हुई जिनकी बुद्धि समता रूपी समुद्र में मग्न (तल्लीन) हो जाती है उन्हीं महा-त्माओं के मन में आनन्द का प्रकाश दिनोदिन बढ़ता है और पहिले कहे हुए क्षमा आदि गुण भी उज्ज्वलता को प्राप्त होते हैं ॥७॥

अथ चतुर्दशभावनाष्टकं टोडीरागेण गीयते—

अब गाने योग्य टोडी राग में अष्टपदी से 'प्रमोद-भावना' कही जाती है—

विनय ! विभावय गुणपरितोषं, निजसुकृताऽऽप्तवरेषु परेषु ।
परिहर दूरं मत्सरदोषं, विनय ! विभावय गुणपरितोषम् ॥वि०॥१॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा ! व हे विनयविजय ! दूसरों के गुणों को और ऐश्वर्यता को देखकर तुम अपने दिल में खुशी हासिल (प्राप्त) करो और अपने अपने पुण्यों के प्रभाव से महत्व आदि गुणों को प्राप्त करनेवाले दूसरे महापुरुषों में द्वेष-बुद्धि का तुम दूर से ही परित्याग कर दो क्योंकि-सम्यक्त्व आदि गुणों के प्राप्त करने से ही तुम्हे मुक्ति मिलेगी। चौथे पद का अर्थ पहले पद के अर्थ के समान ही है ॥१॥

दिष्ट्याऽयं वितरति बहुदानं,
वर-मयं-मिह लभते बहुमानम् ।
किमिति न विमृशसि परपरभागं,
यद्विभजसि तत् सुकृतविभागम् ॥ विनय०॥

भावार्थ—हे चेतन ! यह प्राणी अपने भाग्य के बल से विधिपूर्वक सुपात्रों को बहुतसा दान देता है इस लिए यह प्राणी इस संसार में उत्तम प्रतिष्ठा और अधिक सन्मान को प्राप्त करता है । इस प्रकार हे प्राणी ! उन पुण्यवान जीवों के श्रेष्ठ धर्म का तुम क्यों नहीं अनुमोदन करते हो ? जिससे कि तुम्हे भी उस पुण्य का हिस्सा प्राप्त होवे। आशय यह है कि-धर्म करने वाले को और उसका अनुमोदन करने वाले को तुल्य ही फल होता है । ऐसा शास्त्रों का वचन है ॥२॥

येषां मन इह विगत-विकारं,

ये विदधति भुवि जगदुपकारम् ।
तेषां वयमुचिताऽऽचरितानां,
नाम जपामो वारंवारम् ॥ विनय० ॥३॥

भावार्थ—इस लोक में जिन २ मनुष्यों का मन रागद्वेषादि विकारों से रहित है, जो संसार में प्राणी मात्र का उपकार करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं ऐसे योग्य आचरणवाले उन महापुरुषों के नाम को हम बार बार जपा (स्मरण) करते हैं ॥ ३ ॥

अर्हह ! तितिक्षागुण-मसमानं,
पश्यत भगवति मुक्तिनिदानम् ।
येन रुषा सह लसद-भिमानं,
झटिति विघटते कर्म-वितानम् ॥विनय०॥४॥

भावार्थ—हे भव्यप्राणियों ! तुम लोग जिनेश्वर भगवान में मुक्ति के मुख्य कारण अनुपम क्षमारूपी गुण को आश्चर्य पूर्वक देखो । जिस क्षमा रूपी गुण के प्रभाव से, क्रोध के साथ साथ, प्रतिदिन बढ़ते हुए गर्व से युक्त शुभ और अशुभ कर्मों के समूह बहुत शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥४॥

अदधुः केचन शील-मुदारं,
गृहिणोऽपि परिहृत-परदारम् ।
यश इह संप्रत्यपि शुचि तेषाम्,
विलसति फलिताऽऽफल-सहकारम् ॥ विनय०॥५॥

भावार्थ-कितनेक गृहस्थियों ने भी परस्त्रीगमन की इच्छा से रहित, अत्यन्त श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया था।

उन भविक जनों की पवित्र कीर्ति आज दिन तक भी इस संसार में फल और पुष्पों से सुसज्जित आम के वृक्ष के समान चारों दिशाओं में शोभायमान है ॥५॥

या वनिता अपि यशसा साकं,
कुल-युगलं विदधति सुपताकम् ।
तासां सुचरित-संचित-राकं,
दर्शन-मपि कृतसुकृतविपाकम् ॥ विनय०॥६॥

भावार्थ—हे चेतन ! जो पतिव्रता स्त्रियें अपनी उज्ज्वल कीर्ति के विस्तार के साथ साथ अपने (पितृ कुल और पति कुल) इन दोनों कुलों को ध्वजा के समान समुन्नत करती हैं उन प्रातःस्मरणीय स्त्रियों के दर्शन भी सदाचार से एकत्रित किये हुए धन की तरह पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से ही होते हैं। इस मे तनिक भी सन्देह नहीं ॥ ६ ॥

तात्विक-सात्विक-सुजन-वतंसाः
केचन युक्ति-विवेचन-हंसाः ।
अल-मकृषत किल भुवनाऽऽभोगं,
स्मरणममीषां कृतशुभयोगम् ॥विनय०॥७॥

भावार्थ-हे भव्यात्मा! इस संसार में कई महापुरुष तो यथार्थ रूप से वस्तु के स्वरूप को जाननेवाले, सतो गुण से सम्बन्ध रखनेवाली भावनाओं का चिन्तन करनेवाले, सज्जनों के शिरोमणि रूप से विराजमान हैं और कई महात्मा शास्त्रों के ग्राह्य और अग्राह्य विषयों के ग्रहण और त्याग करने में हंस के समान कुशल है जो समस्त संसार के मनको बलात्-जबरन

अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। ऐसे महानुभावों का चिन्तन मात्र भी पुण्य को देनेवाला है तब उनके दर्शन के प्रभाव का तो कहना ही क्या? ॥७॥

इति परगुणपरिभावनसारं,
सफलय सततं निजमवतारम् ।
कुरु सुविहितगुणनिधिगुणगानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम् ॥विनय०॥८॥

भावार्थ—हे चेतन! इस प्रकार दूसरों के परोपकार आदि सद्गुणों के चिन्तनरूप मुख्य फलवाले अपने जन्म को तुम सदैव चरितार्थ करो और सदाचार, दया, दाक्षिण्यादि गुणों को अच्छी प्रकार पालन करनेवाले पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करो तथा शान्ति रूपी अमृत रस का पान करो। इसी में तुम्हारा भला है ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकायां चतुर्दशः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ पञ्चदशी 'करुणा-भावना' प्रारभ्यते—

चौदहवें प्रकाश में 'प्रमोदभावना' का विचार किया गया । प्रमोदभावना का चिंतन करने से हृदय में करुणा का सञ्चार होता है अतः अब सम्बन्ध प्राप्त 'करुणा-भावना' का विचार किया जाता है—

मालिनी—छन्द—

प्रथममशनपानप्राप्तिवांछाविहस्ता,–
स्तदनु वसनवेश्माऽलङ्कृतिव्यग्रचित्ताः ।

परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियाऽर्थान्,
सततमभिलपन्तः स्वस्थतां क्वाऽश्नुवीरन् ? ॥१॥

भावार्थ—हे चेतन ! जिन लोगों के दिलों मे दया के अंकुरों का प्रादुर्भाव नहीं है वे निर्दयी सदैव धन की कमी से दुःखी रहते है। पहले तो वे खान-पान की प्राप्ति की इच्छा से दिन-रात व्याकुल रहते हैं. उसके बाद उत्तम उत्तम भवन, बहुमूल्य वस्त्र और रत्नजड़ाऊ अलङ्कार आदि की प्राप्ति के लिए उनके चित्त व्यग्र (दुःखी) रहते हैं। इन सब की प्राप्ति के पश्चात् वे कठोर हृदयी अपने विवाह संतान और इन्द्रियों के वाञ्छित पदार्थों की सदैव इच्छा करते हुए मन की स्थिरता को कहाँ पा सकते है? अर्थात् उनका चित्त कहीं भी किसी प्रकार स्थिर नहीं रह सकता ॥१॥

शिखरिणी—छन्द—

उपायानां लक्षैः कथमपि समासाद्य विभवं,
भवाऽभ्यासात्तत्र ध्रुवमिति निबध्नाति हृदयम्।
अथाऽकस्मादस्मिन् विकिरति रजः क्रूरहृदयो,
रिपुर्वा रोगो वा भयमुत जरा मृत्युरथवा ॥२॥

भावार्थ—हे आत्मा ! इस असार संसार में प्राणी अपार कष्टों को सह कर किसी प्रकार से वाणिज्य आदि लाखों उपायों द्वारा लक्ष्मी (ऐश्वर्य) को पाकर अनन्त जन्मों के अपने अभ्यास से एकत्रित किये हुए उस ऐश्वर्य को ज्यों ही निश्चल मानता है त्यों ही निष्ठुर हृदयी शत्रु अथवा अकस्मात् मार देनेवाला कोई रोग अथवा चोर डाकुओं का भय अथवा बुढ़ापा या मौत उस ऐश्वर्य पर अचानक धूल डालदेती है अर्थात् ये सब इस धन को नाश कर देते हैं ॥२॥

स्रग्धरा-वृत्त-

स्पर्धन्ते केऽपि केचिद् दधति हृदि मिथो मत्सरं क्रोधदग्धाः,
युध्यन्ते केऽप्यरुद्धा धनयुवतिपशुक्षेत्रपद्रादिहेतोः ।
केचिल्लोभाल्लभन्ते विपदमनुपदं दूरदेशानटन्तः,
किं कुर्मः किं वदामो भृशमरतिशतैर्व्याकुलं विश्वमेतत् ॥३॥

भावार्थ—हे भव्य जीव! इस संसार में कई प्राणी तो एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कई भभकती हुई क्रोध रूपी अग्नि से जलाये हुए परस्पर मे द्वेष भाव रखते हैं और कई उद्धत प्राणी धन, स्त्री, पशु, क्षेत्र, राज्य, और नगर आदि के लिये कौरवों और पाण्डवों की तरह आपस में युद्ध करते हैं तथा कई लोभ से धन कमाने के हेतु देशविदेशों में घूमते हुए पद पद पर दुःख पाते हैं। दुःखी होते हुए भी हम क्या करें क्या कहें यह संसार सैकड़ों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त पीड़ित है ॥३॥

उपजाति-वृत्त-

स्वयं खनन्तः स्वकरेण गर्ता, मध्ये स्वयं तत्र तथा पतन्ति ।
यथा ततो निष्क्रमणन्तु दूरे-ऽधोऽधः प्रपाताद्विरमन्ति नैव ॥

भावार्थ—हे चेतन! ये संसारी प्राणी खुद ही अपने हाथों से खड्डा खोदकर अपने आप जान बूझकर उसमें गिरते हैं। फिर उसमें से वाहिर निकलना तो दूर रहा पर वे वारवार नीचे गिरने से भी विश्राम (छुटकारा) नहीं पाते। आशय यह है कि-यह जीव अशुभ कर्मों को एकत्रित करने से वारवार गर्भवास आदि दुःखों को सहता हुआ संसार रूपी अगाध गड्ढे में ही पड़ा रहता है कभी भी बाहिर नहीं निकल सकता है ॥४॥

अकल्पयन् नास्तिकताऽऽदिवाद–मेवं प्रमादं परिशीलयन्तः।
मग्ना निगोदादिषु दोषदग्धाः, दुरन्तदुःखानि हहा! सहन्ते॥५॥

भावार्थ—बड़े ही दुःख की बात है कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने के कारण अज्ञानी लोग नास्तिकता से भरे हुए शास्त्रों के असत् वचनों को संसार मे फैलाते हुए और इस प्रकार मिथ्यात्व, राग द्वेष आदि कषाय कर्मो से प्रमाद का आचरण करते हुए, निगोदादि शरीरों के धारण तथा त्याग रूपी दुःख समुद्रों में डूबे हुए, पूर्वोक्त दोष रूपी अग्नि से जलाये हुए, अनन्त जन्म-मरण आदि असह्य दुःख सहते हैं॥

शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथङ्कारमथाऽपनेया–स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव॥६॥

भावार्थ—हे चेतन! जो प्राणी कल्याण करनेवाले धार्मिक उपदेशों का श्रवण नहीं करते है और बारह प्रकार के धर्म में से एक प्रकार के भी धर्म का हृदय में स्मरण-स्पर्श नहीं करते हैं, ऐसे उन धर्म से विमुख प्राणियों के जन्म, मरण, जरा आदि रोग किस प्रकार दूर किये जा सकते है? अर्थात् किसी भी प्रकार दूर नहीं किये जा सकते। क्योंकि-अकेला यह धर्म ही पहले कहे हुए रोगों को दूर करने का अटल-सफल उपाय है॥६॥

अनुष्टुप्–छन्द–

परदुःखप्रतीकार,–मेवं ध्यायन्ति ये हृदि।
लभन्ते निर्विकारं ते, सुखमायतिसुन्दरम्॥७॥

भावार्थ—जो पण्डित लोग इस प्रकार दूसरे दुःखियों के दुःखों को दूर करने के उपाय अपने दिलों में हर वक्त सोचते रहते हैं, वे सज्जन उत्तर-आगामी काल में कल्याण करने वाले

और विकार रहित परम सुख को प्राप्त करते हैं ॥७॥

पञ्चदशभावनाष्टकं रामकुलीरागेण गीयते—

अब गाने योग्य रामकुलीराग में अष्टपदी से 'करुणा-भावना' का सम्यक् प्रकार से विवेचन किया जाता है—

सुजना ! भजत मुदा भगवन्तं, सुजना भजत मुदा भगवन्तम् ।
शरणागतजनमिह निष्कारण-करुणावन्तमवन्तं रे ॥सु०॥१॥

भावार्थ—हे सज्जनो ! इस संसार में शरण में आये हुए प्राणियों की रक्षा करने वाले, निःस्वार्थ सब पर दया करने वाले सर्वज्ञ भगवान का आप लोग हर्ष पूर्वक हमेशा भजन करें। इसी में आपके आत्मा का भला है ॥१॥

क्षणमुपधाय मनः स्थिरतायां, पिबत जिनाऽऽगमसारम् ।
कापथघटनाविकृतविचारं, त्यजत कृतान्तमसारं रे ! सु० ॥२॥

भावार्थ—हे भव्य जनो ! आप लोग कुछ समय के लिए भी अपने चञ्चल मन को एकाग्र करके जैनशास्त्रों के अमृत-मय तत्त्व का पान करो और परमार्थिक ज्ञान से रहित, अपने को दुर्गति में गिराने वाले तथा कुमार्ग पर लेजाने वाली, भ्रम से भरी हुई कुकथाओं से परिपूर्ण असत् शास्त्रों को शीघ्र ही छोड़ दो ॥२॥

परिहरणीयो गुरुरविवेकी, भ्रमयति यो मतिमन्दम् ।
सुगुरुवचः सकृदपि परिपीतं, प्रथयति परमानन्दं रे! सु० ॥३॥

भावार्थ—हे चेतन ! जो अज्ञानी (विचार-शून्य) कुगुरु मन्द बुद्धिवाले (मूर्ख) मनुष्य को भ्रम में पटक देता है अर्थात् अधर्म से परिपूर्ण कार्यों को धर्म बतला कर उसमें प्रवृत्त कराता है वह कुगुरु छोड़देने के योग्य है। सारांश यह है कि—

कुगुरु का धर्मोपदेश नहीं सुनना चाहिए क्योंकि-उसका उपदेश अनन्त दुःख देने वाला है और सद्गुरु का एक ही वार सुनकर ग्रहण किया हुआ उपदेश सुनने वाले के लिए परम सुख का विस्तार करता है। अतः उन सुगुरु का उपदेश अवश्य सुनना चाहिये ॥३॥

कुमततमोभरमीलितनयनं, किमु पृच्छत पन्थानम्।
दधिबुद्ध्या नर! जलमंथन्यां, किमु निदधंतं मंथानं रे! सु० ॥

भावार्थ—हे भव्य प्राणियो! मिथ्यात्वियों के असत् शास्त्रों के अनुशीलन-अभ्यास रूपी अंधकार से मिचे हुए नेत्र वाले कुगुरु को मुक्ति रूपी नगरी का रास्ता क्यों पूछते हो? अर्थात् उस अंधे गुरु से मोक्ष का रास्ता पूछना व्यर्थ है। क्योंकि वह अंधा अविवेकी होने से स्वयं उस मार्ग को नहीं जानता। दही की भ्रान्ति से, पानी से परिपूर्ण गोली (मथानी) में मथन के लिये तुम मंथन-दण्ड क्यों डालते हो ?। सारांश यह है कि जिस प्रकार दही की भ्रान्ति से पानी को मथन करने से घी नहीं मिलता उसी प्रकार कुगुरु से मुक्ति रूपी नगरी का रास्ता नहीं मिलता इस कारण अब उससे मोक्ष नगरी का मार्ग मत पूछो। इसी में तुम्हारा भला है ॥४॥

अनिरुद्धं मन एव जनानां, जनयति विविधाऽऽतङ्कम्।
सपदि सुखानि तदेव विधत्ते, आत्माऽऽराममशङ्कं रे! ॥सु०॥५॥

भावार्थ—हे चेतन! तुम अपने इस चञ्चल चित्त को पाप कर्मों से हटाने का उद्योग करो क्योंकि-यह स्वतंत्र मन ही प्राणियों के अनेक प्रकार के रोग, संताप और उद्वेग आदि दुःखों को उत्पन्न करता है। और फिर वही मन संसार से विमुख होकर आत्मा में लीन होने से निःसन्देह शीघ्र ही नाना प्रकार के अलभ्य सुखों को देता है ॥५॥

परिहरताऽऽश्रवविकथागौरव–मदनमनोदिवयस्यम्।
क्रियतां सांवरसाप्तपदीनं, ध्रुवमिदमेव रहस्यं रे! ॥सु०॥६॥

भावार्थ—हे भव्य जीवो! आप लोग चिरकाल के साथी आश्रव, असद्वार्ता, अभिमान और काम विकार आदि इन सब का शीघ्र ही त्याग कर दें और इनके बदले में आप मन इन्द्रिय और कषाय योगों के निग्रह रूपी सच्चे मित्र को अपनावें क्योंकि निश्चित रूप से धम, जन्म तथा शास्त्रों का यही एक सार है। इसके सिवाय संसार में दूसरा कुछ भी सार नही है ॥६॥

सहत इह किं भवेकान्तारे?, गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारम् ॥सु०॥८॥

भावाथ—हे प्राणियो! इस संसार रूपी भयंकर जंगल में आप लोग अनन्त रोग समूहों को क्यों सहते हो? उन असाध्य रोगों के दर्द को दूर करने के लिये जल्दी से जल्दी संसार की भलाई करने वाले वैद्य स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् की शरण ग्रहण करो जिससे कि तुम शीघ्र ही नीरोग हो जाओगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥७॥

शृणुतैकं विनयोदितवचनं, नियताऽऽयतिहितरचनम्।
रचयत सुकृतसुखशतसंधानं, शान्तसुधारसपानं रे ॥सु०॥८॥

भावाथ—हे ज्ञानी पुरुषो! आगामी समय में अवश्य कल्याण करने वाले सर्वज्ञ जिनेश्वरों के श्रीमुख से निकले हुए अद्वितीय उपदेश वचनों का आप लोग आदर पूर्वक श्रवण कर और फिर सकड़ों पुण्य और अनन्त सुखों को देने वाले शान्त रूपी अमृत रस का धाप कर पान कर ॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या

भाषाटीकाया पञ्चदशः प्रकाशः समाप्तः ॥

अथ षोडशी 'माध्यस्थ-भावना' प्रारभ्यते—

पन्द्रहवें प्रकाश में 'कारुण्य-भावना' का प्रतिपादन किया गया है। प्राणियों के हृदय में कारुण्य का उदय होने से वे राग द्वेष आदि पक्षपात से रहित होकर उदासीन हो जाते हैं। इस सम्बन्ध से विचार मार्ग में आई हुई 'माध्यस्थ-भावना' का सम्यक्तया विवेचन किया जाता है।

शालिनी-वृत्त-

श्रान्ता यस्मिन् विश्रमं संश्रयन्ते,
रुग्णाः प्रीतिं यत्समासाद्य सद्यः।
लभ्यं रागद्वेषविद्वेषिरोधा,-
दौदासीन्यं सर्वदा तत्प्रियं नः ॥१॥

भावार्थ—हे भव्य जनो! इस संसार में जिस 'माध्यस्थ-भावना' के उत्पन्न होने पर राग द्वेष आदि दुःखों से दुःखी प्राणी भी सुख को प्राप्त होते हैं और जिस उदासीनता को पाकर रोगी जन भी उसी समय (सुख-स्वास्थ्य)को प्राप्त होते हैं अर्थात् रोगों के कारणभूत राग द्वेषादिकों के दूर हो जाने से जल्दी ही असीम सुख को प्राप्त करते है। राग द्वेष रूपी प्रबल शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर प्राप्त हुआ वह माध्यस्थ भाव हमेशा हमे प्यारा है ॥१॥

मध्यस्थ महानुभावों के हृदय में खेद का कारण ही उत्पन्न नहीं होता यह अगले श्लोक से कहा जाता है—

लोके लोका भिन्नभिन्नस्वरूपा,
भिन्नैर्भिन्नैः कर्मभिर्मर्मभिद्भिः।

रम्याऽरम्यैश्चेष्टितैः कस्य कस्य,
तद्विद्वद्भिः स्तूयते रुष्यते वा ॥२॥

भावार्थ—हे चेतन ! इस संसार में पृथक् पृथक् भाव को प्राप्त होते हुए, मर्मस्थानों को भेदन करने वाले शुभ और अशुभ कर्मों के कारण प्राणी क्रूर, शान्त, सुखी, दुःखी आदि पृथक् पृथक् स्वरूपवाले हैं। अतः मध्यस्थ (तटस्थ) जनों से किस किस के भले और बुरे व्यापारों (कर्मों) की स्तुति अथवा निन्दा की जाती है अर्थात् मध्यस्थ जन किसी की निन्दा अथवा स्तुति नहीं करते वे तो केवल अपने इष्ट देव गुरू का स्मरण में और ज्ञान ध्यान में ही सदा मस्त रहते हैं ॥२॥

अब अगले श्लोक से दृष्टान्त के साथ 'माध्यस्थ भावना' की पुष्टि की जाती है—

मिथ्या शंसन् वीरतीर्थेश्वरेण,
रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो जमालिः ।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापा-
त्तस्मादौदासीन्यमेवाऽऽत्मनीनम् ॥३॥

भावार्थ—हे सज्जनो ! यदि आप लोग अपना कल्याण चाहते हैं तो आप शीघ्र ही 'माध्यस्थ भाव' का अवलम्बन करें क्योंकि-मिथ्यात्वके उदय होने से असत्य का निरूपण करते हुए, अपने हाथ से दीक्षित जमाली नाम के शिष्य को खुद सर्व शक्तिसम्पन्न भगवान् महावीरस्वामी भी नहीं रोक सके तो फिर दूसरे अज्ञानियों का तो सामर्थ्य ही क्या है ? जो वे अन्य प्राणियों के कदाग्रह व कुमार्ग का निवारण कर सकें। इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि-किस साधारण मनुष्य से दूसरा कौनसा प्राणी अधर्म करने से रोका जा स-

केगा अर्थात् कोई किसी को नहीं रोक सकता। इसलिये 'माध्यस्थभाव' ही कल्याण करनेवाला है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३॥

अर्हन्तोऽपि प्राज्यशक्तिस्पृशः किम्, धर्मोद्योगं कारयेयुः प्रसह्य ?।
दद्युः शुद्धं किंतु धर्मोपदेशं, यत्कुर्वाणा दुस्तरं निस्तरन्ति ॥४॥

भावार्थ—हे चेतन! अतुल शक्तिवाले अर्थात् निग्रह-शिक्षा और अनुग्रह-अनुकम्पा करने में समर्थ जिनेन्द्र भगवानों ने भी क्या किसी को बल-पूर्वक धर्म में प्रवृत्त कराया? अर्थात् किसी को भी नहीं कराया। किन्तु उन्होंने तो निर्दोष विधि और निषेध स्वरूप धर्म का ही उपदेश दिया। अतः उनके श्रीमुख से निकले हुए जिस धर्मोपदेश का पालन करते हुए भव्य प्राणी आज तक भी अपार संसार रूपी सागर से सुख पूर्वक पार होते ह और होयँगे ॥४॥

तस्मादौदासीन्यपीयूषसारं, वारंवारं हन्त! सन्तो लिहन्तु।
आनन्दानामुत्तरङ्गत्तरङ्ग,-र्जीवद्भिर्यद्भुज्यते मुक्तिसौख्यम् ॥५॥

भावाथ—हे विचारशील सज्जनो! इस कारण आप माध्यस्थ भावरूपी अमृत रस का वार वार आस्वादन करो। माध्यस्थ रस का आस्वादन करने से क्या लाभ होता है? इस शंका को दूर करते हुए कहा जाता है कि-जिसके आस्वादन मात्र से इस शरीर से भी जीते हुए उदासीन पुरुषों से अवर्णनीय आनन्द रूपी समुद्र की उछलती हुई लहरों से मुक्ति का सुख भोगा जाता है ॥५॥

अथ षोडशी 'मध्यस्थ-भावनाऽष्टकं' प्रभाती रागेण गीयते-

अब गाने योग्य प्रभाती-राग में अष्टक से मध्यस्थभावना गायन की जाती है-

अनुभव विनय ! सदा सुखमनुभव-मौदासीन्यमुदारम् ।
कुशलसमागममागमसारं, कामितफलमंदारं रे ॥अनु०॥१॥

भावार्थ—हे विनय ! मोक्ष की इच्छा रखने वाले चेतन ! सभी प्रकार के मंगलों को देने वाले, सब शास्त्रों के सारभूत, कल्पवृक्ष की तरह मन वांछित फलों को देनेवाले, निर्दोष 'माध्यस्थसुख' का तूं सदैव एक चित्त होकर बार बार विचार कर। इसी में तुझे सुख मिलेगा ॥१॥

परिहर परचिन्तापरिवारं, चिन्तय निजमविकारं रे ।
वदति कोऽपि चिनोति करीरं, चिनुतेऽन्यः सहकारं रे ॥अ०॥२॥

भावार्थ—हे प्राणी ! तुम पुत्र, मित्र, कलत्र और धन आदि अपने से भिन्न पदार्थों की चिन्ता छोड़ दो और जन्म-मरण आदि विकारों से रहित अपने आतमस्वरूप का एक चित्त होकर विचार करो। पक्षपात पूर्वक मिथ्या भाषण करनेवाला दुःख रूपी काँटों से युक्त पाप समूह रूपी करीर (कैर) वृक्ष को बोता है और दूसरा तटस्थ रह कर अनेक प्रकार के सुखों को देनेवाले शुद्ध सम्यक्त्व ज्ञानादि अतीव स्वादिष्ट फलों से शोभायमान पुण्य समूह रूपी आम्र वृक्ष को लगाता है ॥२॥

योऽपि न सहते हितमुपदेशं, तदुपरि मा कुरु कोपं रे ।
निष्फलया किं परजनतप्त्या, कुरुषे ? निजसुखलोपं रे ॥अ०॥३॥

भावार्थ—हे प्राणी ! जो मनुष्य यदि कल्याण करनेवाले उपदेशों को भी स्वीकार नहीं करता है तो तुम उस पर क्रोध मत करो क्योंकि इससे तुम्हें कुछ भी लाभ नहीं। परोपकार की सिद्धि से रहित (फलहीन) दूसरों की चिन्ता और संतापों से तुम अपने सुख को व्यर्थ में क्यों नष्ट करते हो ? ॥३॥

सूत्रमपास्य जडा भाषन्ते, केचन मतमुत्सूत्रं रे।
किं कुर्मस्ते परिहृतपयसो, यदि पीयन्ते मूत्रं रे ॥अ०॥४॥

भावार्थ—हे चेतन! इस असार संसार में कईएक मूर्ख प्राणी सिद्धान्त शास्त्र को छोड़कर शास्त्र के विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं। ऐसा आचरण करने से वे प्राणी यदि अमृत के समान मीठे दूध को छोड़कर मानो अपवित्र मूत्र ही पीते है तो हम क्या करें। इस निन्दित कर्म से हमारी तो तनिक भी हानि नहीं है, किन्तु इससे दुनियां में उन्ही की हाँसी होगी ॥४॥

पश्यसि किं ? न मनःपरिणामं, निजनिजगत्यनुसारं रे।
येन जनेन यथा भवितव्यं, तद् भवता दुर्वारं रे ॥अ०॥५॥

भावार्थ—हे भव्यात्मा! जन्म जन्मान्तरों मे होनेवाली अपनी अपनी गति के मुताबिक प्राणियों की मनोवृत्तियों को तुम क्यों नहीं देखते हो ? जिस प्राणी की जैसी भवितव्यता (होनी) होती है उसके अनुसार फल भोगे विना उसका किसी प्रकार छुटकारा नही हो सकता। अतः उसकी भावी तुमसे किसी तरह नहीं रोकी जा सकती। इस कारण तुम्हें मध्यस्थ रहना ही उचित है ॥५॥

रमय हृदा हृदयङ्गमसमतां, संवृणु मायाजालं रे।
वृथा वहसि पुद्गलपरवशता,—मायुः परिमितकालं रे॥अ०॥६॥

भावार्थ—हे चेतन! तुम सुख देनेवाली, अत्यन्त मनोहर समता को अपने हृदय में धारण करो और छल कपट रूपी जाल (पाश) को अपने दिल से निकाल बाहिर-अलग करो। तुम व्यर्थ ही में पुद्गलों की आधीनता को क्यों स्वीकार करते हो ? अर्थात् इसका भी त्याग करदो क्योंकि-तुम्हारी आयु

बहुत ही थोड़ी है। इसलिए स्वतंत्र होकर शीघ्र ही आत्मसुधार का अपना कार्य सिद्ध करो॥६॥

अनुपमतीर्थमिदं स्मर चेतन,-मन्तस्थिरमभिरामं रे।
चिरं जीव! विशदपरिणामं, लभसे सुखमविरामं रे॥अ०॥७॥

भावार्थ—हे भव्य जीव! स्वाभाविक सुन्दरता से युक्त, हृदय कमल में स्थित, सब तीर्थों में श्रेष्ठ, स्वच्छ परिणामवाले इस आत्मस्वरूप का तुम स्मरण करो। हे प्राणी! उसका अच्छी प्रकार स्मरण करने से तुम्हें निःसन्देह मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी॥७॥

परब्रह्मपरिणामनिदानं, स्फुटकेवलविज्ञानं रे।
विरचय विनय! विवेचितज्ञानं, शान्तसुधारसपानं रे॥अ०॥

भावार्थ—हे मोक्ष सुख के अभिलाषी प्राणी! निर्विकार, निरञ्जन, शुद्ध चैतन्यस्वरूप परब्रह्म-परमात्मा की प्राप्ति के मूल कारण, केवलज्ञान को प्रकट करनेवाले, सिद्धान्त ज्ञान से युक्त शान्त रूपी अमृत रस का पान करानेवाले 'माध्यस्थभाव' का तुम निरन्तर सेवन करो। अथवा दूसरे पक्ष में-हे विनयविजय! यथार्थ आत्मीय ज्ञान से युक्त, परब्रह्म-शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के मूल कारण, केवलज्ञान के दाता शान्तसुधारस नामक ग्रन्थ का तुम सदैव विचार करो॥८॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या
भाषाटीकाया षोडशः प्रकाशः समाप्तः॥

अब ग्रंथ की समाप्ति के अनन्तर ग्रन्थ की प्रशंसा लिखी जाती है—

स्रग्धरा-छन्द-

एवं सद्भावनाभिः सुरभितहृदयाः संशयाऽतीतगीतो,-
न्नीतस्फीताऽऽत्मतत्त्वास्त्वरितमपसरन्मोहनिद्राममत्वाः,

सत्त्वा गत्वाऽममत्वाऽतिशयमनुपमां चक्रिशक्राधिकानां,
सौख्यानां मंक्षु लक्ष्मीं परिचितविनयाः स्फारकीर्तिं श्रयन्ते ॥१॥

भावार्थ—इस प्रकार यथार्थ वस्तुतत्त्व के विचार से युक्त उत्तम उत्तम सोलह भावनाओं से सुगन्धित हृदयवाले, संदेह रहित परमात्मा की स्तुति से प्राप्त उज्ज्वल आत्मस्वरूपवाले, अज्ञान आलस्य और धन पुत्रादिकों की ममत्व भावना से रहित, अत्यन्त नम्र स्वभाववाले प्राणी ममता रहित स्वभाव की प्रकर्षता को पाकर चक्रवर्ती राजा और सौधर्मेन्द्र तथा अन्य देवेन्द्रों से भी अधिक सुखों की अद्भुत सम्पत्ति को और विशाल कीर्त्ति को शीघ्र ही प्राप्त करते हैं ॥१॥

दुर्ध्यानप्रेतपीडा प्रभवति न मनाक् काचिदद्वन्द्वसौख्य,-
स्फातिः प्रीणाति चित्तं प्रसरति परितः सौख्यसौहित्यसिन्धुः।
क्षीयन्ते रागरोषप्रभृतिरिपुभटाः सिद्धिसाम्राज्यलक्ष्मीः,
स्याद्वश्या यन्महिम्ना विनयशुचिधियो भावनास्ताः श्रयध्वम् ॥

भावार्थ—हे प्राणियो! जिन शुभ भावनाओं के माहात्म्य के प्रभाव से दुष्ट ध्यान रूपी पिशाच की पीड़ा मनुष्यों को जरा भी कष्ट देने में समर्थ नहीं होती किन्तु कोई अनिर्वचनीय अलौकिक सुखों की वृद्धि उनके चित्त को प्रसन्न करती है। अनेक प्रकार के सुख और मंगल दशों दिशाओं में फैलकर उन्हें घेर लेते हैं। उनके राग द्वेष आदि प्रवल शत्रु सैनिक भी नष्ट हो जाते है और अणिमागरिमादिक आठ प्रकार की सिद्धियों की लक्ष्मी भी उनके वश मे हो जाती है। इसलिये विनय और निर्मल वुद्धिवाले आप लोग उन सुन्दर भावनाओं को आदर पूर्वक अपनाओ यानि स्वीकार करो ॥२॥

पथ्या–वृत्त–

श्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यौ, सोदरावभूतां द्वौ ।
श्रीसोमविजयवाचकवाचक–वरकीर्तिविजयाख्यौ ॥३॥

भावार्थ—श्रीहीरविजयसूरीश्वर महाराज के श्रीसोमविजय वाचक और श्रीकीर्तिविजय वाचक नाम के दोनों सगे भाई शिष्य हुए ॥३॥

गीति–वृत्त–

तत्र च कीर्तिविजयवाचक,–शिष्योपाध्यायविनयेन ।
शान्तसुधारसनामा, संदृष्टो भावनाप्रबन्धोऽयम् ॥४॥

भावार्थ—फिर उन दोनों में से उपाध्याय श्रीकीर्तिविजयजी महाराज के शिष्य, उपाध्याय पद से सुशोभित श्रीविनयविजयजी महाराज ने इस शान्तसुधारस नाम के महाकाव्य को बनाकर प्रसिद्ध किया ॥४॥

शिखिनयनसिन्धुशशिमित,–वर्षे हर्षेण गंधपुरनगरे ।
श्रीविजयप्रभसूरि–प्रसादतो यत्न एष सफलोऽभूत् ॥५॥

भावार्थ—सम्वत् १७२३ में नागपुर नाम के नगर मे बड़ी ही निर्विघ्नता पूर्वक श्रीविजयप्रभसूरिजी महाराज की असीम कृपा से यह उद्योग सफल हुआ ॥५॥

उपजाति–वृत्त–

यथा विधुः षोडशभिः कलाभिः, संपूर्णतामेत्य जगत् पुनीते ।
ग्रन्थस्तथा षोडशभिः प्रकाशै,–रयं समग्रैः शिवमातनोतु ॥६॥

भावार्थ–जिस प्रकार अपनी सोलह कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा समस्त संसार को पवित्र करता है वैसे ही अपने

सोलह प्रकाशों से शोभायमान शान्तसुधारस नाम का यह महाकाव्य भव्यजनों के मंगल करे ॥६॥

इन्द्रवज्रा—वृत्त—

यावज्जगत्येष सहस्रभानुः, पीयूषभानुश्च सदोदयेते ।
तावत्सतामेतदपि प्रमोदं, ज्योतिःस्फुरद्वाङ्मयमातनोतु ॥७॥

भावार्थ—जब तक इस संसार में ये सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर उदय होते रहें तब तक अपनी प्रभाओं से प्रकाशमान शब्दों की रचना से युक्त यह ग्रंथ भी सहृदय पुरुषों के हृदय में आनन्दका विस्तार करे ॥७॥

इति श्रीशान्तसुधारसमहाकाव्यस्य भावार्थबोधिन्या भाषाटीकायां
ग्रन्थप्रशस्तिः समाप्ता समाप्तोऽयञ्च ग्रन्थोऽपि ॥



भव्यजीवों के ज्ञान होने के लिये।

बारह भावनाओंका संक्षिप्त स्वरूप–



दुहा–भावे जिनवर पूजिये, भावे दीजे दान।
भावे भावना भाविये, भावे केवलज्ञान ॥१॥

बिना भाव के बाह्यक्रिया से काम नही बन आता है।
शुद्ध ज दोनो योग से जल्दी जीव सिद्ध बन जाता है॥

यदि मनुष्य के भाव उच्च हैं तो क्रिया का भी उत्कृष्ट फल प्राप्त होसकता है। सद्‌भाव विना किये जाने वाली क्रिया पंगु कहलाती है। जिस प्रकार दांत गिरनेके वाद भोजनका चाव-कर स्वाद लेना कठिन है, सुगुरु विना सम्यग्ज्ञानका हासिल करना संदिग्ध होता है तथा लवणके बिना भोजनका स्वाद लेना निष्फल है उसी प्रकार से भाव विना धर्म करना या किसी प्रकार की क्रिया करना भी निरर्थक है। भावना-विषयक जसा सद्‌विचार जनधर्म के आचार्योंने किया है वैसा अन्य धर्माव-लम्बी आचार्योंने नहीं किया। जैनधर्म बारह प्रकारकी भावनाएं स्वीकार करता है। उनका क्रमसे संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है–

[१] अनित्य–भावना–

इह भव रंगभूमि पर कोई रहा न रहने पावेगा।
यह नर अभिनय पूरा करके लौट समय पर जावेगा॥

जिस प्रकार से सन्ध्याभ्र, पानीके वुद्‌वुदे, बिजली, व इन्द्र-धनुष, क्षणभंगुर-विनाशशील है उसी प्रकार यह मलमूत्रसे भरा

हुआ यौवनपूर्ण शरीर तथा यह असार संसार उपरोक्त दृष्टान्तोंसे क्षणभंगुर–अनित्य है। एक आत्माके अतिरिक्त दुनियाका कोई पदार्थ नित्य नहीं है। इस मायाजाली संसार को देखकर वही मूढ आदमी इसमें मग्न होता है जो बुद्धिहीन अपने हिताहित का विचार नहीं कर सकता है। हे सज्जनगण! संसारकी प्रत्येक वस्तु विनश्वर है ऐसा विचार करना अनित्य भावना है।

जैनधर्म में अनित्य–भावना के समर्थनार्थ एक भिखारी का दृष्टान्त दिया गया है कि–एक भिखारी ग्राम में भ्रमण करता २ एक गृहस्थ के घर पर पहुँचा। वहाँ से कुछ खाने की सामग्री प्राप्त करके एक तालाब के किनारे खाने के लिये बैठा। खाने बाद जब भूख शान्त हो गई तो गहरी नींद के वश स्वप्न में वह देखता है कि मैं एक देशका मालिक बनगया हूं और मेरे हाथ के नीचे बड़ी भारी सेना काम कर रही है। नोकर चाकर की कोई कमी नहीं, किसी प्रकार का दुःख नहीं। सब तरफ आनन्द ही आनन्द तथा मंगल ही मंगल है इतने ही में एक जोरका धमाका हुआ और एक क्षण मे ही वह भिखारी जागकर उठ बैठा। उठते ही वह देखता है कि न यहाँ राज्य है न सेना है और न कोई नोकरचाकर ही अतः वह बड़ेही आश्चर्य में पडकर विचार करता है कि–जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ अनित्य हैं उसी प्रकार संसारकी प्रत्येक वस्तु भी अनित्य यानि विनश्वर है। कहा भी है कि—

"संपदो जलतरंगविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि।
शारदाभ्रमिव चंचलमायुः, किं धनैः? कुरुत धर्ममनिन्द्यम्" ॥१॥

अर्थात् शरीर का यौवन कुछ ही दिन स्थायी रहनेवाला है और मनुष्यकी आयु भी शरदृतु के मेघ–बादलसमान चंचल है और जितनी भी धन, दौलत संपत्ति आदि है वह भी विनश्वर

ही है अतः ऐसे धनादि से क्या? इससे तो यही अच्छा है कि अनिन्दनीय सर्वत्र प्रशंसनीय धर्म ही क्यों न किया जाय? कारण कि-शरीर की प्रत्येक वस्तु नाशवान है। तथा माता, पिता, भाई, बहन, सगेसम्बन्धी कोई किसीका नहीं है इससे यह स्वयं सिद्ध होता है कि एक आत्माके अतिरिक्त दुनिया का कोई पदार्थ नित्य नही है यही अनित्यभावना कहलाती है।

अनित्य-भावना पर भरतचक्रवर्ती का प्रबन्ध-

एकबार भरत चक्रवर्ती आइने के सम्मुख अपने शरीर का शृंगार कर रहे थे। शृङ्गार करते करते हाथमें अंगूठी भूलसे नहीं पहन सके। इसलिये सारा हाथ भद्दा प्रतीत होने लगा। यह देखकर उनको विचार आया कि देखो जब मैं इस शरीर को अच्छे २ कपड़े और मूल्यवान गहने पहनाता हूं तो यह कितना शोभित होता है किन्तु जब मैं गहने इत्यादि शरीर से अलग कर देता हूं तो यही शरीर कुरूप दिखाई देने लगता है। यह विचार करते हुए शरीरादि कुल पदार्थ नाशवान हैं एवं अनित्य भावना भाते हुए भरतजी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और चारित्र ग्रहण करके उन्होंने परमगति-मुक्ति को प्राप्त की। इस प्रकार अनित्यभावना भाने से प्रत्येक जन अपना इहलोक और परलोक सुधार सकता है॥

[२] अशरण-भावना-

अशरण का अर्थ यह होता है कि-मृत्यु के भय से किसी को शरण नहीं मिलना। हमारे चरम तीर्थंकर भगवान महावीर-स्वामी जैसे त्रिलोकपूज्य वीर धीर, और महागुणगंभीर रामचन्द्र जैसे न्यायी प्रतापी, रावणके समान बलिष्ठ और इन्द्रके समान सब तरह के महापराक्रमी को भी कालका ग्रास बनना पडा।

उनको भी शरण देनेवाला तीनो लोक मे कोई न मिला तो हमारी कौन गिनती है?।

जिस वक्त प्राणी के शिरपर काल चक्कर लगाने लगता है, उस वक्त माता पिता सगेसम्बन्धी इत्यादि हाथ पकड़ पकड़ कर बैठ जाते हैं। एक दूसरेका मुँह ताकने लगते हैं। इस प्रकार किसीका कुछ वल नहीं चल सकता। इसलिये कहा भी है कि—

जगत जन हरन्तो एम जाणी अनाथी।
व्रत गहिय विछूटो जेह संसारमां थी॥

अशरण भावना पर अनाथमुनि का प्रबन्ध--

कौशाम्बी नगरीका सुकुमार राजकुमार भरयौवन मे विमारी का शिकार हुआ। माता, पिता, भाई, वहन, स्त्री, मित्र सभी चुपचाप अपने माथे पर हाथ रखकर उसके मुखकी ओर देख रहे थे। कोई उनकी रक्षा नहीं कर सकता था। कोई उनको बिमारी से बचा नहीं सकता था। ऐसी हालतमें राजकुमार स्वयं सोते २ विचार करता है कि हे भगवन! आज मेरे पास किसी चीजकी कमी नहीं। मेरे पास चतुरंगिणी सेना है, धन दौलत और बल सब कुछ है फिर भी कोई मेरी रक्षा नही कर सकता है। न कोई शरण ही देसकता है तो यह बात स्वतः सिद्ध है कि एक धर्मके सिवाय कोई मेरा प्रतिपालक नही होसकता है और न होगा।

यह विचार आते ही राजकुमार की हालत धीरे २ सुधरने लगी और प्रातःकाल होते ही पूर्ण रूपसे स्वस्थ होगई तत्पश्चात् दूसरे ही दिन संसार को तिलाञ्जली देकर भगवान महावीरस्वामी के चरणों में अपने शरीर को तथा मन को लय-लीन कर दिया। दूसरे दिन राजा श्रेणिक उसी मार्ग से भगवान

के दर्शनार्थ जाते हुए मार्ग में देखते हैं कि अनाथीमुनि एकाग्र चित्त करके अपने ध्यान में मग्न हैं। उस वक्त राजा श्रेणिक बोले-हे मुनिवर! अभी आप नोजवान सुकुमार हो। अभी तुम्हारा यौवन फूट फूट कर बाहिर निकल रहा है। अभी आपके भोग भोगने का समय है किन्तु योगी बनने का नहीं।

अनाथी बोले—हे राजन! इस असार संसार में मुझे शरण देने वाला कोई नहीं मिला न मेरा कोई नाथ ही बन सका इस लिये मैंने यह कठिन व्रत अङ्गीकार किया है।

श्रेणिक बोले—हे मुनिराज! ऐसा न कहो, चलो मेरे साथ चलो, मैं आपका नाथ बनता हूं। मेरे पास धन, दौलत, बल, राज्य, और अन्य भी सब कुछ है। आओ! आओ!! संसार की अलभ्य वस्तु भी आपकी शुभ सेवा में हाजिर की जायगी।

अनाथी बोले—हे राजन! तूं खुद अनाथ है तो दूसरेका नाथ कैसे होसक्ता है?, राजा बोले-हे मुनि! मैं अनाथ कैसे? मैं मगधदेश का राजा श्रेणिक हूं फिर मुझे अनाथ कैसे कहते हो? आपको झूट बोलनेका दोष लगता है। जब मुनिने कहा कि-मैं भी नृपकुमार हूं इत्यादि मूल से अपनी सभी कथा कहकर सुनाई और अन्त में कहा कि आप भूल कर रहे हैं। जरा सोचो, विचारो आपको विदित होगा कि अन्तकाल मे शरण देने वाला कोई न मिलेगा। यह प्राणी अकेला आया है और अकेला ही जायगा इत्यादि वृत्तान्त सुनते ही श्रेणिक को कुल बातका भान हुआ। तब मुनि से क्षमा मांगी और भगवान महावीरस्वामी के पास जाकर दृढ समकिती बने।

इधर अनाथीमुनिने भी घोर कष्टों को सहकर तथा आत्मोद्धार करके परमगति-मोक्षगति प्राप्त की। इस तरह जो

भव्यप्राणी धर्मकी शरण लेता है वह संसार से पार होकर शीघ्र ही मोक्षस्थान प्राप्त करता है॥

[३] संसार--भावना--

शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से यह जीव अनन्त काल से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में भ्रमण करता हुआ संसार सागर में गोते लगा रहा है। इस जीवने सभी प्रकार के दुःखों व सुखों का अनुभव किया तथा कर रहा है। एवं सभी प्रकार के भोगों का उपभोग किया किन्तु संसार स्वरूप को समझ नहीं सका।

जिस जीवने सांसारिक भोग भोगते हुए इस संसार के स्वरूप को समझ कर इलाचीकुमार की तरह क्षणिक भोगोंको ज्ञान वैराग्य से त्याग कर दिया है वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकता है और जो प्राणी इन्द्रियोंके वश होकर रसलोलुपता में आसक्त हो जाता है वह 'मंगुसूरिकी' तरह भवभ्रमण बढ़ाता रहता है॥

संसार-भावना पर मंगुसूरिका प्रबन्ध-

आचार्यवर्य श्रुतसागर मंगुसूरि पांचसौ शिष्यों के मालिक थे। धर्म के दृढ़ और मुनिमार्ग के सच्चे पथिक थे। एक वार मथुरा नगरी की ओर विहारकरके पधारे। वहां के श्रीसंघने बड़ा आदर सत्कार किया तथा सजधज के साथ नगरी मे ले लाए गए। श्रावकों के हृदय में उनके प्रति बड़ी ही प्रेम भक्ति थी, बड़ी मान मनवार की गई। आचार्य महाराजको वहां पर खाने पीने उठने बैठने पहिनने और ओढ़ने आदि में किसी प्रकार कमी नहीं थी। यह देखकर आचार्यजी का भी मन अतीव प्रसन्नता पूर्वक लुब्ध होगया और कर्मवश मन में दुर्बुद्धि आगई अतः आचार्यजी

को यह विचार आने लगा कि-जब यहाँ पर सब प्रकार के सुख प्राप्त हैं, सेवा भक्ति तथा आदर सत्कार खूब होता है तब यहां से क्यों कर विहार किया जाय? यह सोचकर जिह्वा लोलुपता के कारण आचार्यजीने वहीं पर अपना अड्डा जमा दिया और अन्तमें धीरे धीरे अपनी पूर्ण उम्र व्यतीत करके वे आचार्य उसी नगरी में व्यन्तर देव होगये। पश्चात जब एक समय ज्ञान से अपने पूर्व भव को देखा तो बड़ा पश्चात्ताप हुआ बाद स्थंडिल भूमि जाते हुए अपने शिष्यों को देखकर यक्ष सामने आया और अपनी जिह्वा वहार निकालकर बोला कि-हे मुनिवरो! मैं पूर्वभव में तुम्हारा गुरु मंगुनामक आचार्य था। लेकिन इन्द्रिय रस लोलुपता के कारण मेरी यह दुर्दशा हुई है। अगर आपको अपना भला करना है यानि अपनी जिन्दगी सुधारनी है तो इस नगरी से जल्दी से जल्दी विहार करके चले जाना चाहिये आगे तुम्हारी इच्छा। इस प्रकार मंगुसूरिजी के दृष्टान्त से संसार की असारता सोचकर प्राणीमात्र को प्रमाद रहित धर्म में दृढ़ बनना चाहिये जिससे इह भव व परभव का सुधार हो॥

[४] एकत्व--भावना--

पुण्ये अकेलो नर स्वर्ग जावे। पापे अकेलो नर नर्क पावे ॥

हे भव्यप्राणी! यह अकेला ही जीव पुण्यकर्मोपार्जन करने से सुख प्राप्त करता है और यही जीव पाप प्रकृति के कारण दुःख का भी भागी बनता है। कर्मो का क्षय और उपशम होते वक्त माता पिता भाई बहिन स्वजन सम्पत्ति आदि कोई भी भागीदार नहीं बनता किन्तु यह जीव अकेला जाता है और अकेला ही आता है। इसलिये प्राणीमात्र को चाहिये कि वह धर्म का आश्रय ले और सकल कर्मक्षय करके परमानन्द-सुखस्थान-मोक्षको प्राप्त करे ॥

एकत्व भावना पर नमिराजा का प्रबन्ध-

विदेही देश में सुदर्शनपुर का मणिरथ नामका राजा राज्य करता था, उसका लघु भ्राता युगवाहु था। युगवाहु के रूप गुण से सम्पन्न पतिव्रता धर्मवाली मदनरेखा नामकी धर्मपत्नी थी। एक समय उसके ज्येष्ठ बन्धु मणिरथ का मन विषय वासना से बिगड़ा और उसने एक दासी के साथ अपना कुविचार मदनरेखा को कहलाया। पर धर्मपरायणा वह सती मणिरथका कुविचार समझ कर बोली-चाहे सूर्य पूर्व दिशा छोड़ कर पश्चिम में उदय होने लगजाय, चाहे चन्द्रमा अपनी शीतलता को छोड़कर अंगार बरसाने लगजाय, या अचल पृथ्वी भी चलायमान हो जाय किन्तु में किसी तरह भी धर्ममार्ग से विचलित न होऊंगी॥

जब मणिरथ ने इन शब्दों को सुना तब बोला कि-उसको इतना अहंकार है? ठीक अब जल्दी ही इसका इलाज करना पड़ेगा और युगवाहु को मारने की तरकीब सोचने लगा।

एक दिन युगवाहुको अपनी पत्नी के साथमें क्रीड़ा करते हुए देखकर मोका पाकर रातके समय में युगबाहु को मणिरथ ने क्रीडोद्यान में ही मारडाला। बाद मणिरथ मदनरेखासे विषय भोगके लिये जबरन करने लगा किन्तु "निर्बल के बल राम" इस कहावतानुसार उसी वक्त एक सहायक वहां आ पहुंचा। मणिरथ भागकर कहीं जाता ही था इतने में उसको मार्ग में सर्प ने काटा काटते ही वह मरकर अपने किये पापयोग से दुर्ध्यानवश शीघ्र ही नरक का चिरकाली अतिथि बनगया। इधर यह बात नगर में चारों ओर फैलगई अतः युगवाहु के पुत्र चंद्रयशा को भी यह समाचार मालूम होते ही वह अनेक वैद्यों को लेकर पिताश्री की सेवा में उपस्थित हुआ। परन्तु

अनेक उपायों के करने पर भी सब उपाय निष्फल ही हुए। अन्त में मदनरेखाने चार शरण और पंचपरमेष्ठी आदि का स्मरण नियम कराकर अठारह पापस्थानक का त्याग करवाके संसार का स्वरूप समझाकर उसका मन धम से वासित किया। और वह धर्मध्यान से समाधि पूर्वक आयु को पूर्ण कर पंचम ब्रह्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। उधर रानी को सहायकों ने महलों में पहुंचादी। परन्तु अब रानीका मन गृहवासमें नही लगता था। एक दिन मदनरेखा उठकर जंगलकी ओर चलीगई जंगल में ही पुत्र प्रसव किया और उस पुत्रके हाथ में मुद्रिका पहिनाकर उसे रत्नकंबल से वींटकर अंगशुद्धि के लिये नदी की ओर जा रही थी इतने ही में उधर से एक वनहाथीने आकर उसे सूंड से पकड़ जोर से ऊपर की ओर उछालदी। उसी समय उसके शील के प्रभाव से आकाश मार्ग में जाते हुए एक विद्याधरने अपने विमान में लेली और बोला कि-चलो! मैं नंदीश्वर द्वीप को जा रहा हूँ तुमको भी लेचलूंगा। रानी विद्याधर के साथ रवाना होगई लेकिन मार्ग में विद्याधर रानीके रूपको देखकर कामान्ध होगया किन्तु शीलके प्रभावसे किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की। निर्धारित स्थान पर पहुंचने पर केवली भगवानने विद्याधरको सदुपदेश दिया अतः विद्याधरको ज्ञान की प्राप्ति हुई और रानी से अपने अपराध के लिये बार बार माफी मांगी।

रानीको भी उपदेश लगा जिससे उसने भी चारित्र ग्रहण करलिया। उसके पुत्र नमिरथको पद्मरथ नामक राजा अपने घर पर पालन पोषण करनेके हेतु लेकर चलागया और धीरे २ वह राजकुमार यौवनावस्थाको प्राप्त हुआ। राजाने अनेक चन्द्रमुखी राजकुमारियोंके साथ नमिकुमारका पाणिग्रहण करादिया तथा

नृपके कोई दूसरा पुत्र न होने के कारण राज्याभिषेक भी कर दिया।

और कुछ समय पश्चात् नमिकुमारको रोग ने अपना शिकार बना लिया। वैद्योंसे राय लेने पर चन्दनका लेप करना ठीक समझा गया। प्रेमवश सभी रानियोंने चन्दन घिसना आरंभ किया। लेकिन चुड़ियोंकी ध्वनि सुनकर राजा बोला कि-यह आवाज कौन कर रहा है? रानियोंने जबाव दिया-हे पतिदेव! ये तो हम हैं, चन्दन घिसने के कारण चुड़ियोंकी आवाज होरही है। इस प्रकारसे राजाको तकलीफ होते देखकर रानियोंने अपनी चुड़ियां उतार लीं और एक २ चुड़ी ही हाथ में रखकर चन्दन घिसने लगीं। बाद आवाज नहीं होते देखकर राजा फिर बोला कि-क्या चन्दन घिसना बंद करदिया? रानियोंने कहा-नहीं! नहीं!! पतिदेव! आपको तकलीफ होते देखकर हमने अपनी चुड़ियां उतार लीं और हाथ में एक २ चुड़ी रखकर चन्दन घिस रही हैं। यह सुनते ही नमिराजा को विचार आया कि-जो अकेलेमें मजा है वह बहुतमें नहीं। यह जीव भी अकेला आया है और अकेला ही जायगा। सुख दुःख भी अकेला ही भोगता है कोई भी परलोक साथ नही आता। इस प्रकार विचार करते २ नमिराजाको विरक्ति पैदा होगई और दूसरे दिन हालत सुधरने पर चारित्र ग्रहण करके संसार को त्याग दिया। उसी वक्त ब्राह्मणके रूपसे सौधर्म-इन्द्रने आकर अच्छी तरह उनकी शुद्ध भावनाकी परीक्षा की और उनके संयम दृढता की अतीव प्रशंसा कर इन्द्र अपने स्थान पर गया। बाद खूब तपस्यादि धर्मध्यान कर के अपने कर्मक्षय होने पर अन्तकाल करके मोक्ष प्राप्त की। हे सज्जनगण! यही एकत्व भावना भाने का सुफल होता है।

[५] अन्यत्व--भावना--

इस शरीरको अपना जानकर मित्रके समान खूब खिलाया,

चन्दनादिक काममें लेते हैं। अच्छे २ स्वादिष्ट रसीले तथा सुन्दर भोजन करते हैं। कीमती वस्त्रों तथा आभूषणों को धारण करते हैं, किन्तु सभी अशुचि के कारणसे विगड़ जाते हैं। कहां तक कहूं यह शरीर भी अशुचि में पैदा हुआ है और अन्त समयमें अशुचि में ही मिल जायगा। अतःस्नान करना, साफ सुथरे कपड़े रखना ये सब घमंडके बाहरी ढोंग हैं। सच्चे ज्ञानी महात्मा व विवेकी सन्त साधु तो उपरोक्त अशुचि-भावनाको भाकर अपने ज्ञानादि गुणों द्वारा आत्मोन्नति में लगे रहते हैं॥

अशुचि-भावना पर सनत्कुमार चक्रवर्तीका प्रबन्ध-

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार वड़े ही रूपवान् थे। एक समय भरी सभामें इन्द्रने उनके रूपकी खूब प्रशंसा की। उस वक्त दो मिथ्यात्वी देवताओंको इन्द्रके कथन पर विश्वास नही हुआ और परीक्षा लेनेके लिये पृथ्वी पर जिस वक्त विप्रका रूप धरकर राजभवनमें देवता आये उस वक्त सनत्कुमार स्नानागारमें स्नान कर रहे थे। विप्र बोले-हे राजन ! हम आपका रूप देखना चाहते हैं। राजा बोला-हे ब्राह्मणदेव ! आप लोग अभी मेरा रूप क्या देखते हो ? जब मैं मुकुट तथा छत्र चामर मस्तक पर धारण करके राजसिंहासन पर वैठूं तब मेरे रूपको देखना ब्राह्मणोंने वैसाही किया। वाद आने पर जैसे ही सनत्कुमारको देखा विप्रदेव वोले कि-हे राजन् ! यह शरीर तो पूर्वके रूपसे विपरीतसा प्रतीत होता है चक्रवर्ती वोले-यह कैसे ? उसी वक्त ब्राह्मणोंने राजाको पान खिलवाकर थूंकवाया और उस थूंक पर मक्खी वैठते ही मृत्युको प्राप्त होगई। यह देखकर सनत्कुमारको ज्ञानगर्भित वैराग्य पैदा होगया। दूसरे ही दिन राजपाट छोड़कर दीक्षा लेली जैसे

सर्प अपनी कच्चूलीको छोड़ देता है फिर उसके तर्फ नहीं देखता है उन्ही तरह राजऋद्धिको त्याग कर एकदम निकल पड़े उस वक्त ३२ हजार राजा तथा सुनन्दादि स्त्रियोंने छः मास तक साथमे रह-कर खूब समझाया तो भी आपका उस ज्ञानगर्भित वैराग्यसे बिल्कुल मन विचलित नही हुआ। उसके बाद कर्मयोगसे उनके शरीरमें बड़े भयंकर रोग उत्पन्न होगये और वे रोग सातसौ वर्ष तक रहे। जब तकलीफ बहुत बढ़ गई तो वे ही देव वैद्यका रूप धरकर उनके पास आये और बोले कि-हे साधुवर्य अगर आप कहें तो हम आपके शरीरका इलाज़ करें। सनत्कुमार बोले-हे वैद्यराज! यदि आप कर्म रूपी रोगोंको मिटा सकते हो तो दवाई कर सकते हो। यह सुनकर वैद्य बोले कि-हे मुनिराज? यह काम तो किसीसे होना सम्भव नहीं हमारी क्या ताकत है?। पीछे मुनिने स्वयं चारित्रतपोबलसे अपनी एक अंगुलीमें थूक लगाकर अपने शरीरको साक्षात्स्वर्ण समान करलिया और बोले कि-इतनी शक्ति हमारेमें है परन्तु इससे बाह्य रोग ही शान्त होसकते हैं नाकि आत्मिक कर्मोंके रोग, मुनिका यह चमत्कार देखकर मुनिको वन्दना व स्तुति करके वे देवता अपने स्थान चलेगये और उसके बाद सनत्कुमार मुनिवरने तप जप संयम आराधना करके अच्छी तरह अपनी आत्माको कृतकृत्य की। इस तरह जो अशुचिका घर इस शरीर को समझकर ममता रहित होजाता है वह सनत्कुमार चक्रवर्तिके समान परमपद-मोक्ष स्थानको प्राप्त करता है॥

[७] आश्रव-भावना-

अविरति, मिथ्यात्व-सुदेवगुरुधर्मादि पर विपरीत श्रद्धा, क्रोधादि कषाय, योग, और क्रिया इन आश्रवद्वारों के जरिये जीव

बारंबार कर्मबन्धन करता है। तथा चारों गतियोंमें अनेकानेक भव भ्रमण किया करता है, यही आश्रव भावना कहलाती है।

यदि आत्मा का निग्रह करना है तो मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम लगाओ। क्षमा समतादि गुणों को हृदय में स्थान दो, क्रोधादि कषायोंको दूर करो, तथा पवित्र विचारवाला सदाचार से जीवन को जन्म जरा और मृत्यु के दुःखों से बचाने की सच्ची भावना हो तो कष्टों को सहन करते हुए पवित्र रत्नत्रय की आराधना करो॥

आश्रवदोष पर पुण्डरीक नृप का प्रबन्ध—

महाविदेह क्षेत्र में पुण्डरीकिणी नगरीमे पुण्डरीक और कुण्डरीक नामक दो भाई राज्य करते थे। इस सुअवसर पर एक ज्ञानी साधु वहां पधारे। उनके सदुपदेश से कुण्डरीक को सद्-सद्वस्तु का ज्ञान मिलते ही उसने चारित्र ग्रहण किया। चारित्रके माग पर चलना तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। तथा साधुपन में सरस नीरस आहार खाने पड़ते हैं बस यही सोच विचार कर कुण्डरीक के मन में दुर्बुद्धि पैदा होगई। इस कारण वह अपने घर पर आया और भाई से बोला कि–हे भ्राता! मुझ से चारित्र निभता नहीं इसलिये मैं तो अब राज्य का उपभोग करूंगा। मुझको राज्य देकर आप चारित्र ग्रहण करलो। यह सुन कर पुण्डरीक बोला–हे भ्राता! तुम खुशी से इस राज्य का उपभोग करसकते हो। मैं तो स्वयं ही इस राज्य-भार से दुःखी हो रहा था। देवगुरू ने मेरी आज ही सुनवाई करली यह बड़ी ही खुशीकी बात हुई। बस, दूसरे दिन ही अपने भाईका राज्याभिषेक करके पुण्डरीकने चारित्र ग्रहण कर लिया और निर्दोष चारित्र पालन करते हुए मोक्षगति प्राप्त की।

इधर जब पुण्डरीक राज्यसिंहासन पर बैठा तो प्रजा ने बड़ा

ही धिक्कार दिया। तृष्णावश अनेक वार ज्यादातर खाने के कारण कुण्डरीककी हालत वहुत खराव होगई। दस्त तथा वमन अतीव चालु होगये। ऐसी हालतमें कोई भी प्रजाजन उसकी सेवा के लिये हाजिर न हुआ यह देखकर वह क्रोधान्वित होगया और यह भावना भाने लगा कि ठीक मुझ को अच्छा होने दो बादमें सब की खबर लेलूंगा। इस प्रकार दुर्ध्यान ध्याते हुए वह शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त होगया और अप्रतिष्ठान नरकावास में ३३ सागरोपमके आयुष्यवाली उसने सप्तम नरक गति प्राप्त की। इस तरह जो प्राणी आश्रवों का सेवन करता है, वह चौरासी-लाख जीवयोनि में अनन्त काल पर्यन्त भव भ्रमण करता ही रहता है॥

अतः दुर्गतिदायक आश्रवोंसे दूर ही रहना चाहिये॥

[८] संवर–भावना-

आश्रव का प्रतीकार करना या रोकना संवर कहलाता है, इसके सत्तावन भेद होते हैं। जो इन सत्तावन प्रकार के भेदों का सर्वथा सेवन करता है वह सर्वोत्कृष्ट अनन्त सुखों का भागी बनता है। मूल में तो यह आत्मा स्फटिक रत्न से भी ज्यादा निर्मल तथा निष्कषायी होता है। परन्तु विविध प्रकार के आश्रव द्वारों के कारण कर्मवन्धन होकर मलिन दिखाई देता है। जो इनका निग्रह वज्रस्वामी के सदृश करता है वह इस भव और परभव दोनों को सुधार लेता है॥

संवर भावना पर श्रीवज्रस्वामी का प्रबन्ध--

पाटलीपुत्र नगर में धनावह नामक सेठ के रुक्मिणी नामकी महारूपवती कन्या थी। यह एक दिन वज्रस्वामी का उपदेश सुनने आई किन्तु आचार्यजी का अतीव सुन्दर रूप

देखकर मोहित होगई। घर आकर पिता से बोली-हे पिताजी! मैं शादी वज्रस्वामी से ही करूंगी दूसरे से नहीं। तब पिता ने कहा-साधु परणे नहीं इत्यादि प्रकारसे बहुत कुछ समझाई परन्तु वह किसी तरह न समझी। अन्त में पिता अपनी पुत्री तथा बहुत धन दौलत लेकर वज्रस्वामी के पास आया। पुत्री तथा धनादि को सोंपकर मुनिराज से धनावह सेठ बोला-हे मुनिवर्य! आप इस पुत्री के साथ पाणिग्रहण करो और इस धनादिको सुख पूर्वक संभालो। इतना कहकर धनावह शीघ्र ही अपने घर पर चलदिया।

तत्पश्चात् लड़की ने उनको मोहित करने के लिये बहुत प्रकार के हाव, भाव और कटाक्ष बाणों से उनका दिल ललचाया किन्तु-मुनिराज विचलित होने वाले कब थे? उन्होंने किञ्चित्मात्र भी मन को डामाडोल नहीं किया। आखिर रुक्मिणी हारकर पिता के पास आई और उस धन को सत्कार्यों यानि ७ क्षेत्रों मे व्यय करके संवरभाव का कारणभूत संयम धारण कर अन्त में समाधि से अंतकाल कर उसने सद्गति प्राप्त की इसी को संवरभावना कहते हैं॥

[९] निर्जरा-भावना-

आत्मप्रदेशों के साथ क्षीर नीर के सदृश कर्मदल अनादि काल से लगे हुए हैं। उनको क्षय करना या आत्मा से अलग करना निर्जरा कहलाती है। कर्म का क्षय बाह्य और आभ्यन्तर इन दो प्रकार के तप से होता है जिनके कर्म दल सर्वथा नाश होजाते हैं उनको जन्म जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता। इस प्रकार नवमी भावना के भाने से जीव का संसार से जल्दी ही छुटकारा होजाता है।

निर्जरा दो प्रकार की होती है अकाम-निर्जरा और सकाम-निर्जरा। उनमें विवेकशून्य परवश होकर जो कष्टक्रिया को सहन करके कर्म विनाश किया जाता है उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। व ज्ञान विवेक सहित तप जप और संयम आदि से कर्मों का जो नाश किया जाता है वह सकाम-निर्जरा कहलाती है।

अकाम--निर्जरा का उदाहरण-

जैसे मरुदेवी माता ने अपने पूर्व भवमें अव्यक्त अवस्था में परवस कष्टों का सामना किया था और मरुदेवीके भवमें कर्मक्षय करके मोक्षगति प्राप्त की, इसलिये अकाम-निर्जरा भी कभी २ सर्वोत्तम परिणाम विशेषसे सकाम-निर्जरा की हेतु बन जाती है इसवास्ते अकामनिर्जराको भी शास्त्रकारोंने शुभ फलदायक मानी है।

सकाम--निर्जरा का उदाहरण-

दृढप्रहारी नामक किसी ब्राह्मणने अपने स्वाधीन निर्वेद-ज्ञान वैरागसे संयम ग्रहण करके निश्चल मनसे अनेक परीषह और उपसर्ग सहन किये। उसका फलस्वरूप अपने कुल कर्मक्षय करके उसने सिद्धस्थान को प्राप्त किया। इसी प्रकार निर्जरा-भावना को भाने से सभी को अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है।

[१०] लोकस्वरूप-भावना-

जिस तरह पुरुष कटि पर दोनों हाथ देकर और पैरों को फैलाकर खड़ा रहे, उसी तरह 'लोकपुरुष' जानना चाहिये। यह तिर्च्छा-पाटला-थाल के आकार वाला है, जो ऊंची भूमि के ऊपर रक्खा हुआ मृदंग के समान मालूम होता है। नीचे भुवनपति व्यन्तर सातों नरक तथा तिर्च्छा ढाई द्वीप और ज्योतिश्चक्र है। तथा ऊपर १२ देवलोक, ९ ग्रैवेयक, ५ -

विमान जिनके ऊपर सिद्धशिला रही हुई है। इस तरह का लोकस्वरूप केवली भगवान से कहागया है।

जहाँ पर जीव निवास करते हैं उसे लोक कहते हैं। जहां पर जीव निवास नहीं करते उसे अलोक कहते हैं। असंख्यात योजन प्रमाण चौदह राज लम्बा चौड़ा लोक है, और बाकी का बचा हुआ सब अलोक है। वहां आकाश के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है।

धर्माधर्माकाश पुद्गल जीव और काल ये ६ द्रव्य जिसमें रहते हैं वही लोक कहलाता है जो ऊर्ध्व, अधः और तिर्च्छी असंख्यात योजन लम्बा है यह लोक और अलोक अनादि हैं। नया किसीने बनाया नही और न कोई आगे बनावेगा। इस १४ रज्जू लम्बे चौड़े लोक में जीव कर्मवश भ्रमण करता रहता है। जो विधियुक्त ज्ञान दर्शनादि रत्नत्रय का आराधन करता है वह सकल कर्मों का क्षय करके मुक्तिधाम को प्राप्त होता है॥

[११] बोधिदुर्लभ-भावना-

सर्वज्ञ वीतराग देव ने स्वानुभव से जगत के कल्याणार्थ यह बतलाया है कि रत्नत्रय अर्थात् सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्राप्ति बहुत ही शुभ कर्मोदय से होती है। पहले तो मनुष्य जन्म मिलना ही बड़ा कठिन है। यह मिल गया तो आर्यदेश मिलना उससे भी कठिन, आर्यदेश भी मिल जाय तथापि उत्तम कुल जाति व सुखसंपत्ति मिलना तो अत्यन्त ही कठिन है। इस तरह यह सब तो फिर भी मिल सकते हैं किन्तु सच्ची श्रद्धा, सच्चा गुरु, धर्म और वीतराग की वाणी मिलनी अत्यन्त ही कठिन है। यह सब मिलने पर भी इन्द्रिय लोलुपता कषाय और परिषहादिक शत्रुवर्ग के सामने रहते हुए भली प्रकार से

रत्नत्रय का आराधन करना तथा निर्दोष चारित्र का पालन करना अत्यन्त ही कठिन है।

ऊपर बतलाई हुई कठिनाईयों के आते हुए भी धीर वीर महापुरुष क्षमा, मार्दव, आर्जव, सरलता तथा संतोष की सहायता से उक्त-कहे हुए रत्नत्रय का आराधन सुख से कर-सकता है। जैसे कि-इलाचीकुमार ने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी केवलज्ञान की प्राप्ति की॥

बोधिदुर्लभ-भावना पर इलाचीकुमार की कथा-

एक बार की बात है कि-इलाचीकुमार एक नवयोवन नटिनी के रूप पर मोहित होकर नाटक करने वालों के साथ होगया। नाटक करने में अत्यन्त पटु होकर खूब द्रव्य कमाकर सांसारिक सुखों का यथेष्ट भोग उस नटपुत्री के साथ करना चाहता था किन्तु इलाचीकुमार एक बार थंभे के ऊपर चढ़कर नाटक कर रहा था कि-उस वक्त एक साधुवर्य एक श्रेष्ठिवर्य के घर पर आहार लेरहे हैं, किन्तु घर में उस सेठानी के अकेले होते हुए भी वे नजर उठा कर भी नहीं देखते हैं। उन्होंने अपनी इन्द्रियों और मन को कितना अपने वश में कर लिया है। यह मुनि और सेठानी का वृत्तान्त देखकर इलाचीकुमार को विचार होने लगा कि देखो एक तो मेरी हालत और एक इन मुनिराज की हालत दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। गंदगी से भरे हुए इस शरीर को देखकर मैं इतना अन्धा होगया मुझे धिक्कार है। मैं इस अवनि पर भारभूत पैदा हुआ हूं। इस प्रकार अपनी आत्मा के रूप को धिक्कार देते हुए थम्भे पर ही अनित्यादि भावना भाते हुए शुक्लध्यान में लीन होकर अपने कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करलिया। यह देखकर देवताओं ने दुदुंभी

बजाते हुए केवलज्ञान का महोत्सव किया।

इस प्रकार से जब यह मनुष्य जीवन बड़ी ही कठिनाईयों से प्राप्त होता है फिर भी अगर हम धर्मध्यान न करके इस शरीर को वैसे ही गँमादें तो हमें धिक्कार है। इसलिये धर्म-साधनों का उपयोग करके जरूर हमें आत्मसिद्धि करना चाहिये। वारंवार यह मनुष्य जीवन मिलना नहीं है कहा भी है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पल में परलय होयगा, काम करेगा कब्ब ॥१॥

[१२] धर्म-भावना-

ऊपर कहा हुआ रत्नत्रय रूप धर्म क्षमादिक दश प्रकार का यतिधर्म अथवा दान शील तप भावना रूप धर्म अङ्गीकार करके रागद्वेष और मोहादिक कर्मशत्रुओं को जीत लिया है ऐसे जिनेश्वर देवने लोकहितार्थ बतलाया है कि-जो अहिंसा, तप और संयम का निर्दोष पालन करता है, वही इस ४ गति ८४ लक्ष जीवयोनिरूप भवसागर से पार होता है।

सर्वोत्कृष्ट अहिंसादि धर्म को जो पालन नहीं करसकता उसके लिये भगवान ने ५ अणुव्रत ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत रूप गृहस्थ धर्म भी बतलाया है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है। तत्त्व अश्रद्धा अथवा अतत्त्व श्रद्धा रूप मिथ्यात्व जहांतक नहीं छोड़ाजाय वहांतक यह जीव संसार भ्रमण से अलग नहीं होसकता। अतः सर्वतः प्रथम कुगुरु और कुसंगति का त्याग करना चहिये, सद्गुरु की संगति ही हितकारी होती है। सर्वज्ञ वीतराग देव सर्वोत्कृष्ट योग्यता वाले होनेसे जगद्गुरु कहलाते हैं अत. उनकी ही शरण में हमें हमेशा रहना चाहिये॥

धर्मभावना पर संप्रति राजा की कथा—

सम्प्रति राजा अपने पूर्व भव में एक भिक्षुक थे, उनकी दशा ऐसी थी कि सभी उनको देखने से घृणा करते थे। कोई भी अपने द्वार पर आने नहीं देता। एक समय उन्होंने एक मुनि को गृहस्थ के घर से भोजन लाते हुए देखकर साधु से कुछ खाने को मांगा, किन्तु साधु ने देने से इन्कार करदिया। वह भिखारी उपाश्रय तक उनके पीछे २ गया। वहाँ भी जाकर साधु के गुरु से भीख के लिये प्रार्थना की। गुरु ने जवाब दिया कि यह भोजन साधु के सिवाय किसी को नहीं दिया जाता। तब भिखारी बोला कि-मुझे भी साधु बनालो। गुरु ने ऐसा ही किया कईएक दिनों से भूखा होने के कारण उसने खूब पेटभर खाया जिससे उसे दस्त उलटिया होने लगीं उस वक्त उसकी हाजरी में बड़े २ साधु और श्रेष्ठियें तैयार हुए तब वह भिखारी सोचने लगा कि-देखो अब भी मैं वही आदमी हूँ जो पहले था सिर्फ इस धर्म और वेश का ही यह प्रभाव है। इस प्रकार भावना भाता हुआ इस संसार से आयु पूर्ण करके वही भिखारी साधु मरकर राजा सम्प्रति हुआ।

इन सबका मैंने त्रिकरण योग से त्याग करदिया है। इसलिये जाओ तुम जैनधर्म की उत्तम वृद्धि करो, धर्म में दृढ रहना, सुनीतियुक्त अपने राज्य को संभालो और अपने हृदय भवन में सदैव दयाधर्म रखना चाहिये इत्यादि इस प्रकार सदुपदेश देकर आचार्यजी महाराज वहां से विहार कर गये। राजा भी अपने घर गया और तन मन धन सभी धर्मकार्य में लगा दिये। उसके बाद अन्तकाल में संप्रति राजा धर्मभावना भाता हुआ इन्त काल करके सद्‌गति को प्राप्त हुआ॥

इति बारह भावनाओ का संक्षिप्त स्वरूप संपूर्ण ॥



योग्य हैं वे सर्वोत्कृष्टज्ञान
लोगों के जन्म मरण रू
नाश करें ॥३॥

शुक्लोपलेन गीर्यारि
श्रीयुगमंधरस्याति, स

जिन पूजनीय श्रीयुग
वाणी जो लोक में मिश्री क
अर्थात्-जैसे विशेषज्ञ सामान
की मधुरता समान ही मालूम
सुज्ञ और अज्ञ के लिये समान
महोत्तम वाणी मुझे शाश्वत

भवाब्धेर्भव्यजन्तून् स, बा
श्रीबाहुर्भगवाञ्शास्ता, भूय

जिनेश्वर श्रीबाहुस्वामी जो ।
में गिरते हुए प्राणियों के लिये
सत्य मार्ग के पथिक बनाकर, मा
से उद्धार करने के लिये-अवलम्बन
हैं। ऐसे श्रीबाहुस्वामी मुझे केवलज्ञ

सर्वेषामुपकाराय, तीर्थकृन्नाम सं
श्रीसुबाहुर्विदेहेऽर्हन्, जम्बूद्वीपे

इस जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र
के हित के लिये तीर्थंकर इस नाम को
करनेवाले संसार मे धर्म के प्रवर्तक
रूप से धारण किये हुए श्रीसुब
ों को सुखदायी हों ॥६॥

योग्य हैं वे सर्वोत्कृष्टज्ञानादिगुण संपन्न ऐसे श्रीसीमंधरस्वामी हम लोगों के जन्म मरण रूप संसार चक्र के भयानक दुःखों का नाश करें ॥३॥

शुक्लोपलेव गीर्यस्य, ज्ञानाज्ञाऽकृतिनां समा।
श्रीयुगमंधरस्याति, सा सदा शिवदाऽस्तु मे ॥४॥

जिन पूजनीय श्रीयुगमंधरस्वामी की साक्षात् अमृतमयी वाणी जो लोक में मिश्री की तुलना को धारण करनेवाली है अर्थात्–जैसे विशेषज्ञ सामान्यज्ञ और अज्ञजनों को भी मिश्री की मधुरता समान ही मालूम होती है। उसी तरह यह वाणी भी सुज्ञ और अज्ञ के लिये समान रूप ही रही हुई है। ऐसी वह महोत्तम वाणी मुझे शाश्वत सुख देनेवाली हो ॥४॥

भवाब्धेर्भव्यजन्तून् स, बाहुभ्यामुद्धरन्निव।
श्रीबाहुर्भगवाञ्शास्ता, भूयान्मे केवलप्रदः ॥५॥

जिनेश्वर श्रीबाहुस्वामी जो कि–संसाररूपी अगाध समुद्र में गिरते हुए प्राणियों के लिये अवलम्बनरूप हैं अर्थात्–उन्हें सत्य मार्ग के पथिक बनाकर, मानो संसार चक्र के आवागमन से उद्धार करने के लिये–अवलम्बन देने में हस्त रूप रहे हुए हैं। ऐसे श्रीबाहुस्वामी मुझे केवलज्ञान देनेवाले हों ॥५॥

सर्वेषामुपकाराय, तीर्थकृन्नाम संवहन्।
श्रीसुबाहुर्विदेहेऽर्हन्, जम्बूद्वीपे सुखप्रदः ॥६॥

इस जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में संसार के प्राणीमात्र के हित के लिये तीर्थंकर इस नाम को यथार्थ चरितार्थ–सफल करनेवाले संसार में धर्म के प्रवर्तक इस नाम को वास्तविक रूप से धारण किये हुए श्रीसुबाहु भगवान् संसारमात्र के जीवों को सुखदायी हों ॥६॥

देशनावसरे सम्यक्, तत्त्वाप्तिर्यादृशी सताम् ।
श्रीसुजातप्रभोर्जाता, भूयान्मेऽपि च तादृशी ॥७॥

जिन श्रीसुजातप्रभु की देशना से सज्जनों को जिस प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई । उसी प्रकार का सम्यक्त्व अर्थात्— ज्ञानादि धर्म तत्त्वस्वरूप हम को भी प्राप्त हों ॥७॥

श्रेयोवल्ली नवानश्री,—समुत्पादे नवाम्बुदः ।
स्वयंप्रभजिनेन्द्रोऽस्तु, भव्यानां धृतिमुत्प्रदः ॥८॥

सर्व मंगलमय लताओं के मूलकारण, संसार में जिस तरह नवीन पुष्करावर्त्त मेघ अनेक प्रकार के धान्य की राशियों के उत्पन्न करने में समर्थ है । उसी तरह श्रीस्वयंप्रभ जिनेश्वर भव्यजनों को चारित्रमय अतीव हर्ष देनेवाले हों ॥८॥

कर्मभारभराक्रान्तान्, जनान्निर्वाहयन्सदा ।
मोक्षाऽध्वनि श्रिये मेऽस्तु, तीर्थकृदृषभाननः ॥९॥

जन्म जन्मान्तरों के कर्मसंबन्धी अत्यन्त भार से व्याकुल अतएव मोक्षमार्ग के प्रति चलने में असमर्थ जनों के परम सहायक और चतुर्विध धर्मस्वरूप तीर्थ के निर्माणकर्त्ता श्रीऋषभानन प्रभु भव्यजनों के लिये मोक्षरूपी-लक्ष्मी के देनेवाले हों ॥

अनन्तभ्रमतप्तानां, स्याद्वादामृतनिर्झरी ।
अर्हतोऽनन्तवीर्यस्य, जीयाद् वाणी जगत्त्रये ॥१०॥

श्रीअनन्तवीर्य प्रभु की पवित्र वाणी तीनों लोक में सदा जयवन्त रहे । जो कि संसार के जन्म जरा मरण रूप भ्रमण-आवागमन से सन्तप्त बने हुए प्राणियों को शीतल करने के लिये [illegible] अमृत-झरने के समान [illegible] हुई है ॥१०॥

[illegible], [illegible] सूरप्रभ ।
श्री[illegible], [illegible] नः ॥११॥

मिथ्यात्व रूपी घने अन्धकार को दुर करने के लिये जा साक्षात् सूर्य के समान रहे हुए हैं। वे श्रीसूरप्रभु भगवान् भव्यजनों के व हम लोगों के लिए सर्व प्रकार के मगल देनेवाले हों॥

विशालकीर्तिभृल्लोके, श्रीविशालो[१०] जिनेश्वरः।
विशालज्ञानदो मेऽस्तु, भवसन्ततिवारकः॥१२॥

सारे संसार मे जिनकी यशकीर्ति पूर्णतौर से फैली हुई है। अत यश से परिपूर्ण श्रीविशालनामक जिनदेव जो कि-भवरूपी उत्पत्ति का मूलबीज-राग द्वेष से स्वयं अलग हुए अन्यों को अलग करते हैं। वे जिनेश्वर देव भव्यजनों के व मेरे लिये विशाल ज्ञान-अक्षय ज्ञान के देनेवाले हों॥१२॥

कर्मशैलप्रभेदार्थं, तपोवज्रः करे धृतः।
श्रीवज्रं[११]धरजैनेन्द्रो, भूयात्पापनिवारकः॥१३॥

जिन श्रीवज्रंधरस्वामी ने कर्मरूपी पर्वतों को छिन्न भिन्न करने के लिये तप रूप वज्र को हस्त में धारण किया है। वे प्रभु हम लोगों के सर्व पाप को दुर करनेवाले हों॥१३॥

भव्यहृत्कजबोधाय, नूतनोदितचन्द्रमाः।
जीयाच्छ्रीधातकीखंडे, चंद्रानन[१२]जिनाधिपः॥१४॥

धातकीखंड मे श्रीचंद्रानन जिनेन्द्र भगवान् चिरकाल पर्यन्त जयवन्त रहें। जो कि-भव्यजीवों के हृदय रूपी कमल को विकसित करने में नवीन-दूज के उदित चन्द्रमा के समान शोभित हैं॥१४॥

दानादीष्टसुवाक्येना-ऽनेकान्तमतधारिणे।
नतेन्द्रोष्णीषपादाय, नमः श्रीचन्द्र[१३]बाहवे॥१५॥

दानादि चार प्रकार के धर्मस्वरूप हितवाक्यों से युक्त अने-

कान्तमन के धारी और जिनके चरणकमलों में देव देवेन्द्रादि के मुकुट नमे हुए हैं। उन श्रीचन्द्रबाहु भगवान् को मेरा कोटिशः वन्दन हो ॥१५॥

भुजङ्गस्वामिनः कीर्ति-र्हंसीव स्वर्णदीतटे ।
ज्ञानक्रीडासुखासक्ता,-ऽन्यभवे मेऽपि बोधिदा ॥१६॥

जिन श्रीभुजङ्गस्वामी की अवर्णनीय कीर्त्ति स्वर्णदी-गङ्गा नदी के आनन्दमय तट पर ज्ञानरूप क्रीड़ा के सुख में हंसी के समान सदैव आसक्त हो रही है। ऐसी प्रभु की कीर्ति-गुण-श्रेणी भवान्तर में मुझे भी बोधिलाभ देनेवाली हो ॥१६॥

मूढा मतान्तरे लोका, वदन्ति स्त्रीविलासिनम् ।
ईश्वरं हृदि नचान्यो, विनाऽनन्तं ममेश्वरः ॥१७॥

कितनेक लोग जैन धर्म की स्थिति मर्यादा न जानने के कारण स्त्री के विलासी को ही परमेश्वर मानते हैं। परन्तु हम लोगों के हृदय में वही अनन्त ईश्वर भगवान् बसा हुआ है जो कि-कामादि आभ्यन्तर व बाह्य शत्रुओं से निर्मुक्त हैं और वस्तुतः केवलज्ञानादि गुणनिधीश्वर वही सच्चा ईश्वर है ॥१७॥

आर्तिगर्तगतान् भव्या,-नाकर्षन्तं जिनाधिपम् ।
कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्तं, स्तवे नित्यं नेमिप्रभम् ॥१८॥

संसार रूपी अगाध समुद्र से पार करने में सुन्दर जहाज के समान एवं अखंड आत्मीय अनंत सुख देनेवाले श्रीवीरसेन प्रभु के चरण-कमल भव्यप्राणियों के सदैव अतीव हर्ष के लिये हों ॥१९॥

महाभद्रप्रदातारं, जैनशासनवर्तिने।
महाभद्रं[१८] जिनाध्यक्षं, विश्वाध्यक्षं वयं स्तुमः ॥२०॥

संसार के अखिल चराचर पदार्थ जिनके प्रत्यक्ष रूप रहे हुए है और जो जिनशासन में वर्तनेवाले चतुर्विध श्रीसंघ को सर्वोत्कृष्ट मंगल के देनेवाले हैं। उन श्रीमहाभद्र जिनेश्वर की हम लोग शुद्धान्तःकरण से सदैव स्तवना करते हैं ॥२०॥

कृतोपकारः सर्वेषां, येन कीर्तिः सुविस्तृता।
स्तुवन्ति निर्जरा यश्च, स्तुवे देवयशः[१९]प्रभुम् ॥२१॥

जिनके असीम उपकार की कीर्ति चारों ओर दिशाओं के अन्ततक फैली हुई है और सर्व देव देवेन्द्र भी जिनकी निरन्तर स्तुति पूजादि करते रहते हैं। उन श्रीदेवयशाप्रभु को हम सदैव प्रेमभाव से स्तवना करते हैं ॥२१॥

अर्हतोऽजितवीर्यस्यैं, श्रद्धा मेऽस्तु हृदि स्थिरा।
पुष्करार्द्धे स्थितस्यापि, मोहमल्लजया वरा ॥२२॥

उन श्रीअजितवीर्य्य जिनेन्द्रदेव की श्रद्धा मेरे हृदय में निरन्तर निवास करे। यद्यपि वे भगवान् पुष्करार्द्ध द्वीप में विराजमान हैं तथापि उनके ऊपर रही हुई श्रद्धा समस्त प्रकार के मोहरूपी मल्ल को पराजय करने वाली है। वही सर्व श्रेष्ठ श्रद्धा मेरे हृदय में सदैव निवास करे ॥२२॥

सर्वान् गणधरान्वन्दे, निर्मलज्ञानिनोऽपि च।
तदाज्ञाराधकान्साधून्, सत् त्रियोगैर्मुदा सदा ॥२३॥

उपरोक्त विचरते हुए वीस विहरमान जिनेश्वरों को तथा सभी गणधरों को एव निर्मल ज्ञानवाले केवली भगवानों को तथा उनकी आज्ञा के आराधक मुनीश्वरों को मन वचन काया के शुभ योगों से प्रीतिपूर्वक मैं निरन्तर वंदन करता हूं ॥२३॥

रसगुणनवचन्द्रे वत्सरे गोलपुर्या–
मगुमकृत सुभक्त्या 'श्रीलराजेन्द्रसूरिः'।
सकलजिनवराणां सुस्तवं पापनाशं,
भवतु सकलसिद्धिप्रापकः पाठकानाम् ॥२४॥

इस प्रकार परम भक्ति के वश सकल पापों का नाश करनेवाला यह वीस विहरमान जिनेश्वरों का श्रेष्ठ स्तवन सर्व सूरिगुणसंपन्न श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने विक्रम-सं० १९३६ में गोलनामक नगर में वनाया, जो कि पाठकगण को सभी तरह की सिद्धि का प्राप्त करानेवाला हो ॥२४॥

